प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

तीसरी बार : १९५८

मूल्य

दो रुपये

मुद्रक

हिंदी प्रिंटिंग प्रेस

क्वींस रोड, दिल्ली

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबाजीकी कई पुस्तके हिंदीमे प्रकाशित हो चुकी है , लेकिन उनके एक ऐसे सग्रहकी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जो विशेप रूपसे युवकोके लिए उपयोगी हो और जिसे पढकर वे जान सकें कि सच्ची शिक्षा एव संस्कृति क्या है और उन्हे किस प्रकार अपने जीवनका निर्माण तथा विकास करना चाहिए, जिससे वे समाज और राष्ट्रकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सके ।

प्रस्तुत सग्रह इसी कमीको पूरा करनेके विचारसे निकाला जा रहा है । युवको, विशेपकर विद्यार्थियोकी दृष्टिसे लगभग सभी आवश्यक विपयोका समावेश इसमें हो गया है । हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, वर्तमान शिक्षा-प्रणालीको किस प्रकार लाभदायक बनाया जा सकता है, शिक्षको में किन-किन गुणोका होना जरूरी है, विद्यार्थियोको आत्म-विकासके लिए किन-किन भूलभूत बातोको अपने अदर विकसित करना चाहिए, शरीर-श्रम क्यो आवश्यक है, वास्तविक अर्थशास्त्र क्या है, हमें ग्रामोकी सेवापर अपना ध्यान क्यो केद्रित करना चाहिए, ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन देनेसे क्या लाभ है, हमारे जीवन मे साधनाका क्या महत्त्व है, त्याग और दानका क्या स्थान है, आजकी सामाजिक एव आर्थिक विपमताओको सर्वोदयके सिद्धात द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, महापुरुषोके जीवनसे हमे क्या-क्या शिक्षाए मिलती है, आदि-आदि दर्जनो विपयोपर इस पुस्तकमे प्रकाश डाला गया है । विनोबाजी जो कुछ कहते है, उसके व्यावहारिक पक्षको पहले देख लेते है । अत: इस पुस्तकमे सिद्धात और व्यवहार, दोनोका बडा ही सुदर समन्वय पाठकोको मिलेगा ।

विनोबाजी महान चितक और साधक है । देशके करोड़ो भूखे, नगे और पीडित लोगोकी पुकार उन्हे पवनारसे खीचकर उनके बीच ले आई

है और वह समाजमे अहिंसक क्राति उत्पन्न करनेके लिए देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक पैदल यात्रा कर रहे है। हमें विश्वास है कि उनके विचारों-का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करके पाठक उस महान ध्येयकी पूर्त्तिमे योग देंगे, जिसके लिए विनोबाजीने अपने प्राणोकी बाजी लगा रखी है।

पुस्तककी सामग्री 'विनोबाके विचार', 'गाधीजीको श्रद्धाजलि', 'शाति-यात्रा' आदि कई पुस्तकोसे ली गई है।

तीसरा संस्करण

प्रस्तुत पुस्तकका तीसरा संस्करण पाठकोकी सेवामे उपस्थित करते हुए हमे बडा हर्ष हो रहा है। पुस्तकमे शिक्षा और सस्कृतिके विषयमे बुनि-यादी विचार है और इन विचारोका जितना अधिक प्रचार होगा, उतना ही लाभदायक है। हम चाहते हैं कि पुस्तक प्रत्येक युवकके हाथमें पहुंचे, जिससे अपने जीवन-निर्माणमे उसे सही मार्गदर्शन प्राप्त हो।

हमें विश्वास है कि पुस्तक उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

—मत्री

गंभीर अध्ययन

अध्ययनमे लवाई-चौडाई महत्त्वकी चीज नही है। महत्त्व है गभी-रताका। वहुत देरतक घटो-के-घटे और भाति-भातिके विषयोका अध्ययन करते रहनेको मै लवा-चौडा अध्ययन कहता हू। समाधिस्थ होकर नित्य-निरतर थोड़ी देरतक किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मै गभीर अध्ययन कहता हू। दस-वारह घटे सोना, पर करवटे वदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नीदसे विश्राति नही मिलती, बल्कि पाच ही छः घटे सोवें, किंतु गाढ निद्रा हो तो इतनी नीदसे पूर्ण विश्राति मिल सकती है। यही वात अध्ययनकी है। समाधि अध्ययनका मुख्य तत्त्व है।

समाधियुक्त गभीर अध्ययनके विना ज्ञान नही। लवा-चौडा अध्ययन वहुत-कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्तिका अपव्यय होता है। अनेक विपयोपर गाडीभर पढाई करते रहनेसे कुछ हाथ नही लगता। अध्ययनसे प्रज्ञा, वुद्धि स्वतत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभाके मानी है वुद्धिमे नई-नई कोपले फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति, ये सव प्रतिभाके लक्षण हैं। लवी-चौडी पढाईके नीचे यह प्रतिभा दवकर मर जाती है।

वर्तमान जीवनमे आवश्यक कर्मयोगका स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा भविष्य-जीवनकी आशामे वर्तमान कालमे मरने-जैसा प्रकार वन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है, यह प्रत्येकके अनुभवमे आनेवाली वात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममे वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

दो बिदुओसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी तो दो बिदुओंसे ही निश्चित होता है। हम है कहा, यह पहला बिदु, हमे जाना कहा है, यह दूसरा बिंदु। इन दो बिंदुओका तय कर लेना जीवनकी दिशा तय कर लेना है। इस दिशापर लक्ष्य रखे बिना इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तय नही हो पाता।

'ग्रामसेवावृत्त' से] —विनोबा

विषय-सूची

जीवन और शिक्षण

: १ :

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मां ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो, मुझे असत्यमेंसे सत्यमे ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

इस मंत्रमें हम कहा है, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहा जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्यमें है, अंधकारमे है, मृत्युमें है। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्यकी ओर जाना है, प्रकाशकी ओर जाना है, अमृत्वको प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्तके लिए परमार्थ-मार्ग नही है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूपका एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जडके लिए परमार्थ-मार्ग नही है। कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नही है। जीव-स्वरूपका एक ही बिंदु नजरके सामने है, इसलिए मार्ग आरंभ ही नही होता। मार्ग बीचवाले लोगोके लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्यमेंसे सत्यमे ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी है, 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयत्न करूंगा', इस तरहकी एक

प्रतिज्ञा-सी करना । प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नही रहता । यदि मै प्रयत्न नही करता और चुप बैठ जाता हू, अथवा विरुद्ध दिशामे जाता हू, और जबानसे 'मुझे असत्यमेसे सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हू, तो इससे क्या मिलनेका ? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाडीमे बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करे, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्यसे सत्यकी ओर ले चलनेकी प्रार्थना करनी हो तो असत्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए । प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नही हो सकती । इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमे यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मै अपना रुख असत्यमे सत्यकी ओर करूगा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जानेका भरपूर प्रयत्न करूगा ।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यो ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए । मै प्रयत्न करनेवाला हू । पर फल मेरी मुट्ठीमे थोडे ही है । फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलबित है । मै प्रयत्न करके भी कितना करूगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वरकी सहायताके बिना मै अकेला क्या कर सकता हू ? मै सत्यकी ओर अपने कदम बढाता रहू तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मै मजिलपर नही पहुच सकता । मै रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हू, पर अतमे मै रास्ता काटूगा कि बीचमें मेरे पैर ही कट जानेवाले है, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बलबूते मै मजिलपर पहुच जाऊगा, यह घमड फिजूल है । कामका अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वरके हाथमे है । इसलिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है । प्रार्थना के सयोगसे हमे बल मिलता है । यो कहो न कि अपने पासका सपूर्ण बल काममे लाकर और बलकी ईश्वरसे माग करना, यही प्रार्थनाका मतलब है ।

प्रार्थनामे दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है । दैववादमे पुरुषार्थको अवकाश नही है, इससे वह बावला है । प्रयत्नवादमें निरहकार वृत्ति नही है, इससे वह घमडी है । फलत दोनो ग्रहण नही किये जा सकते । किंतु दोनोको छोडा भी नही जा सकता । कारण, दैववादमे जो नम्रता है वह जरूरी है । प्रयत्नवादमे जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है । प्रार्थना इनका मेल साधती

है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित' गीतामें सात्त्विक कर्त्ताका यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थनाका रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका, अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा।' यह अर्थ ध्यानमें रखकर हमें रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

: २ :

जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण-पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकड़े हो जाते हैं। आयुके पहले पंद्रह-बीस बरसोंमें आदमी जीनेके झंझटमें न पड़कर सिर्फ शिक्षाको प्राप्त करे और बादको शिक्षणको बस्तेमें लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है। हाथभर लंबाईका बालक साढ़े तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोंके ध्यानमें भी नहीं आता। शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रमसे, थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होनेका भानतक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रातको सोये तब तो दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आजकी शिक्षण-पद्धतिका तो यह ढंग है कि अमुक वर्षके बिल्कुल आखिरी दिनतक मनुष्य-जीवनके विषयमें पूर्ण रूपसे गैरजिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मेदारीमें कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमें हाथ-पैर टूट जाय तो क्या अचरज!

भगवान्‌ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमे भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीताके 'क्लास' लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें नही ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते है उसे जीवनसे बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते है, इसलिए उक्त ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमे मग्न है। तरह-तरहके ऊचे विचारोके महल बना रहा है। "मै शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूगा। मै वाल्मीकि-सा कवि बनूगा। मै न्यूटनकी तरह खोज करूगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोडोको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओका आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकडीके फेर मे पडा, जब पेटका प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नही थी और अब तो पहाड सामने खडा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेटके लिए वन-वन फिरनेवाले शिवाजी, करुण गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरीकी, तो कभी औरतकी, कभी लडकीके लिए वरकी और अतमे श्मशानकी शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकारकी भूमिकाए लेकर अपनी कल्पनाओका समाधान करता है। यह हनुमान-कूदका फल है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा—"क्योजी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेजमें जाऊगा।"

"ठीक है। कालेजमे तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभीसे उसका विचार क्यो किया जाय? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नही हुआ।"

"विचार हुआ नही, यानी? लेकिन विचार किया था क्या?"

"नही साहब, विचार किया ही नही। क्या विचार करे? कुछ सूझता नही। पर अभी डेढ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वेही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहलेकी आवाजमे वेफिक्री थी। आजकी आवाजमें थोडी चिंताकी झलक थी।

फिर डेढ वर्ष वाद उसी प्रश्नकर्त्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो, अव 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रात था। आवाज की वेफिक्री विल्कुल गायव थी। 'तत किं ? तत किं ? तत किम् ?' यह शकराचार्यजीका पूछा हुआ सनातन सवाल अव दिमागमे कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाव नही था।

आजकी मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पडता है। यह प्रसग उनपर नही आता जो 'मरणके पहले ही' मर लेते है, जो अपना मरण आखोसे देखते है। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव कर लेते है, उनका मरण टलता है और जो मरणके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते है, खिचते है, उनकी छातीपर मरण आ पडता है। सामने खभा है, यह वात अवेको उस खभेका छातीमें प्रत्यक्ष धक्का लगनेके वाद मालूम होती है। आखवालेको वह खभा पहले ही दिखाई देता है। अत: उसका धक्का उसकी छातीको नही लगता।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई निरी मौत नही है और मौत ही कौन ऐसी वडी 'मौत' है ? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनो आनदकी वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिताने—ईश्वरने—वे हमे दिये है। ईश्वरने जीवन दु खमय नही रचा। पर हमे जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने वच्चोके लिए परेशानी-की जिंदगी चाहेगा। तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणाका कोई पार है ? वह अपने लाडले वच्चोके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झझटोंसे भरा जीवन रचेगा ? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलनेका इतजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहा नाक है, वहा हवा मौजूद है। पानीसे अन्नकी जरूरत कम होनेकी वजह से पानी प्राप्त करनेकी वनिस्वत अन्न प्राप्त करनेमें अधिक परिश्रम करना पडता है।

'आत्मा' सबसे अधिक महत्वकी वस्तु होनेके कारण वह हरेकको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे, जड जवाहरात जमा करने जितने जड बन जाय तो तकलीफ हमे होगी ही। पर यह हमारी जडताका दोष है, ईश्वरका नही।

जिदगीकी जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नही है। वह आनदसे ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी सरल योजनाको ध्यानमे रखते हुए अयुक्त वासनाओको दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनदसे भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षासे भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिदगीकी जिम्मेदारीसे वचित हुआ वह सारे शिक्षणका फल गवा बैठा। बहुतोकी धारणा है कि बचपनसे जिदगीकी जिम्मेदारी-का खयाल अगर बच्चोमे पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिदगीकी जिम्मेदारीका भान होनेसे अगर जीवन कुम्हालता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नही है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियोकी भी है और इसका मुख्य कारण है जीवनके विषय मे दुष्ट कल्पना। जीवन मानो कलह, यह मान लेना। ईसप-नीतिके अरसिक माने हुए, परतु वास्तविक, मर्मको समझनेवाले मुर्गेसे सीख लेकर ज्वारके दानोकी अपेक्षा मोतियोको मान देना छोड दिया तो जीवनके अदरका कलह जाता रहेगा और जीवनमे सहकार दाखिल हो जायगा। बदरके हाथमें मोतियोकी माला (मरकट-भूषण अग) यह कहावत जिन्होने गढी है, उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्यके पूर्वजोके सबधमे डार्विनका सिद्धात ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथमे मोतियोकी माला' वाली कहावत जिन्होने रची वे अपने मनुष्यत्वके प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चोको उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो तो लडकोको उसमे जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हे शिक्षण नही मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्रमे कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्रमें देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नहीं है, वही वह मिल सकती है।

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्‌गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोको खेतमे काम करने दो। वहा कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेके लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चोको रसोई बनाने दो। उसमे जहा जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमे काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोके आसपास जरूरतके अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हो। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नही होगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हो, जैसे व्यवहारमे आदमी जीवन जीते हैं। अतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोका जीवन विचार-मय होगा, उसमेके विचार मौकेपर बच्चोको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतत्र धधेकी जरूरत नही है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी। और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढता हू' या 'पढाता हू' ऐसे जवाबकी जरूरत नही है। 'खेती करता हू' अथवा 'बुनता हू' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिए, पर जीवनके भीतरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षाके लिए उन्होने दशरथसे लडकोकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लडकोको भेजा। लडकोमे भी यह जिम्मेदारीकी भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षणके 'काम'के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नही कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हे मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य कर्मका आनुषगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य कर उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लडकोको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोको वह ठोकरे खा-खाकर मिलता है। छोटे लडकोमें आज उतनी शक्ति नही आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना

चाहिए कि वे बहुत ठोकर न खाने पाये और धीरे-धीरे वे स्वावलबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा फलके लिए भी लागू है—खास शिक्षणके लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमे भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया, 'इद प्राप्स्ये'—कल वह पाऊगा, इत्यादि वासनाए आती ही है। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह'से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मा बीमार है, उसकी सेवा करनेमे मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षणके लोभसे मुझे माताकी सेवा नही करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मै 'शिक्षण' समझता हू वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नही टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रमको शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोका इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षणकी दृष्टिसे ही दाखिल किये जाय, पेट भरनेकी दृष्टिसे नही। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हदतक वह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमे ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाजके बहुतेरे दु.ख और पातक नष्ट हो ही जाय। इसीसे मनुने 'योऽर्थशुचि: स हि शुचि'—जो आर्थिक दृष्टिसे पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जिये, इस शिक्षणमे सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्तिसे शरीर-यात्रा करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करनेसे ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्राके लिए उपयोगी परिश्रम करनेको ही शास्त्रकारोने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नही है, इसे यज्ञकर्म जान। वामन पडितका यह वचन प्रसिद्ध है। अत: मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हू, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रासे मतलब अपने साढे तीन हाथके शरीरकी यात्रा न समझकर समाज-

शरीरकी यात्रा, यह उदार अर्थ मनमें बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा, इतना समीकरण दृढ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवामें देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेकमें होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चोमे भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्तिभर उन्हें जीवनमे भाग लेनेका मौका देना चाहिए और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षणकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खड न होगे। जीवनकी जिम्मेवारी अचानक आ पडने से उत्पन्न होनेवाली अडचन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षणका मोह' नही चिपकेगा और निष्काम कर्मकी ओर प्रवृत्ति होगी।

: ३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारोका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते है और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घरमें जीता है और मदरसेमें विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नही बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमें मदरसेका प्रवश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्रको चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे।

छात्रालय अथवा शिक्षकोके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसे कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके सबधमें—पाठ्यक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाए इस लेखमें करनी हैं। वे इस प्रकार है—

(१) ईश्वर-निष्ठा ससारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्यक्रम-

मे दोनो वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप सत-वचनोकी सहायतासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रातको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

(२) आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट सबध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मणसे या दूसरे किसी रसोइयेसे रसोई नही बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अग है। सार्वजनिक काम करनेवालेके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको वह आनी चाहिए। स्वावलबनका वह एक अग है।

(४) कौटुबिक पाठशालाको अपने पाखानेका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नही, किसी भी समाजोपयोगी कामसे नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अत्यजका काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी सच्ची तालीम भी इसमे है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेके ढगका अभ्यास है।

(५) अस्पृश्योसहित सबको मदरसेमे स्थान मिलना चाहिए, यह तो है ही, पर 'कौटुबिक' पाठशालामे पंक्ति-भेद रखना भी सभव नही। आहार-शुद्धिका नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रात कर्म सबेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठडे पानीसे करना चाहिए।

(७) प्रात कर्मोकी तरह सोनेके पहलेके 'सायकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायकर्मका गाढ निद्रा और ब्रह्मचर्यसे सबध है। खुली हवामें अलग-अलग सोनेका नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षाके बजाय उद्योगपर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घटे तो उद्योगमे देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नही होनेका। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमे वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

(९) शरीरको तीन घटे उद्योगमे लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वत करनेका नियम रखनेके बाद दोनो समय व्यायाम करनेकी जरूरत नही है। फिर भी एक बेला अपनी-अपनी जरूरतके मुताबिक खुली हवामे खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातनेको राष्ट्रीय धर्मकी प्रार्थनाकी भाति नित्यकर्ममें गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घटेमे तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामे या कही भी छोडे बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपडेमे खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी, जहातक सभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नही चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमे अपवाद है। पर मौजके लिए या ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। नीदके लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रातमें भोजन नही रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनो दृष्टियोसे इस नियमकी आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयोमे सपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कौटुबिक शालाके जीवनक्रमके सबधमे ये चौदह सूचनाए की गई है। इनमे किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमे ब्यौरा नही दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमे जिन्हें 'रस' है वे इन सूचनाओपर विचार करे।

: ४ :

राष्ट्रीय शिक्षकोंका दायित्व

एक देशसेवाभिलाषीसे किसीने पूछा—"कहिए, अपनी समझमे आप क्या काम अच्छा कर सकते है ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मै केवल शिक्षणका काम कर सकता हू और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नही ?"

"जी नही। दूसरा कोई काम नही करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूगा और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूगा।"

"हा-हा, अच्छा सिखानेमें क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकते है ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?".

"नही, वह नही सिखा सकता।"

"तब, सिलाई ? रगाई ? बढईगिरी ?"

"न, यह सबकुछ नही।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नही, कामके नामसे तो मैंने कुछ किया ही नही, मै केवल शिक्षणका "

"भाई, जो पूछा जाता है उसीमे 'नही, 'नही' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल' शिक्षणका काम कर सकता हू। इसके मानी क्या है ? बागबानी सिखा सकिएगा ?"

देशसेवाभिलाषीने जरा चिढकर कहा, "यह क्या पूछ रहे है ? मैंने शुरूमें ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नही आता। मै साहित्य पढा सकता हू।"

प्रश्नकर्ताने जरा मजाकसे कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझमें आई ! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते है ?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुहसे कुछ ऊटपटाग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्ता बीचमें ही बोल उठा—"शाति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेगे ?"

अब तो हद होगई। आगमे जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो। यह सवाद खूब जोरसे भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ताने तुरत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोडा-सा उपयोग है, बिल्कुल न हो, ऐसा नही है। खैर, आप बुनाई सीखनेको तैयार है ?"

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नही है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नही, क्योकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नही।"

"माना, इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हू, नही ही आयेगा। पर मान लीजिए, बडी मेहनतसे आया भी तो मुझे इसमें बडा झझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नही होगा, यही समझिए।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखानेको तैयार है वैसे खुद लिखनेका काम कर सकते है ?"

"हा, जरूर कर सकता हू। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहनेका काम भी है झझटी, फिर भी उसके करनेमे कोई आपत्ति नही है।"

यह बातचीत यही समाप्त होगई। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जाननेकी हमें जरूरत नही।

शिक्षकोकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षण यानी—

किसी तरहकी भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलतासे शून्य,

कोई नई कामकी चीज सीखनेमे स्वभावत: असमर्थ हो गया है,

क्रियाशीलतासे सदाके लिए उकताया हुआ,

'सिर्फ शिक्षण' का घमड रखनेवाला पुस्तकोमे गडा हुआ, आलसी जीव,

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनमे तोडकर बिलगाया हुआ मुर्दा; शिक्षण और शिक्षकके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते है। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्ध-जीवनकी ज्योति जगाकर दिखाते है। 'गीता' मे बुद्धि-ग्राह्य जीवनका अर्थ अतीद्रिय जीवन बतलाया है। जो इद्रियोका गुलाम है, जो देहासक्तिका मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नही है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोडकर जो बुद्धि देहके द्वारकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष अर्थमें मृतजीवी है। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोको मनुने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके काममे इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमे तो मृत पूर्वजोकी स्मृतिको जिदा करना रहता है और जिन्होने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है, उनका इस काममे क्या उपयोग?

शिक्षकोको पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वय आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रका निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तानकी नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोके बिना वह सभव नही है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमे अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षणकी आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो शक्तिया मानी गई है। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनो शक्तिया जहा है, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी है आत्माहुति देनेकी, आत्मत्यागकी शक्ति, और 'स्वधा'-के मानी है आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनो शक्तिया राष्ट्र-शिक्षणमे जाग्रत

होनी चाहिए। इन शक्तियोके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। वाकी सब मूर्त—निर्जीव—है, कोरा शिक्षण।

ऊपर-ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोने वडा आत्मत्याग किया है, पर वह उतना सही नही है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके मानी आत्मत्याग नही हैं। उसकी कसौटी भी है। जहा आत्मत्यागकी शक्ति होगी, वहा आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहेका करेगा? जो आत्मा अपनेको खडा ही नही रख सकता वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्यागकी शक्तिमे आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकोने अभीतक सिद्ध नही की हैं। इसलिए आत्मत्याग करनेका जो आभास हुआ, वह आभास मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके वाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षणको अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोको अव• स्वधा-सपादनकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोको 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोडकर स्वतत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी किसानोपर होती है वैसी—अपने ऊपर होनी चाहिए और विद्यार्थियोको भी उसीमे दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारो ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरो कर्मातिशेषेण' इस वाक्यका अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है, नही तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा—इतना ही अगर 'गुरो. कर्म' का अर्थ ले तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी? और उसके लिए कितने लडकोको कितना काम करनेको रहेगा। इसलिए 'गुरो: कर्म' करनेके मानी हैं गुरुके जीवनमें जिम्मेदारीसे हिस्सा लेना। वैसा दायित्व-पूर्ण भाग लेकर उसमें जो शका वगैरा पैदा हो उन्हें गुरुसे पूछे और गुरुको भी चाहिए कि अपने जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमें थोडा स्वतत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वरकी उपासनाका ही हो, पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोडा समय उपासनाके लिए देना पडता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षणपर लागू करना चाहिए। मतलव, जीवनकी

जिम्मेदारीके काम ही दिनके मुख्य भागमे करने चाहिए और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज एक-दो घंटे (Period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवनमे उतारना राष्ट्रीय शिक्षकका कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करते रहनेसे उसके जीवनमे अपने-आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणें फैलेगी और उन किरणोके प्रकाशसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वत सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी खवरदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखनेकी जरूरत नही।

: ५ :

तेजस्वी विद्या

जब मै अपनेको विद्यार्थियोमे पाता हू तो मुझे बहुत खुशी होती है। इसका कारण यह है कि आपकी और मेरी जाति एक है। आप विद्यार्थी है, और मै भी विद्यार्थी हू। हर रोज कुछ-न-कुछ नया ज्ञान हासिल कर ही लेता हू।

यूनिवर्सिटीमें रहकर आप लोग कुछ ज्ञान कमाते है और समझते है कि यह ज्ञान आपको अपने भावी जीवनमें लाभ पहुचायेगा। वास्तवमें जहा यूनिवर्सिटीका ज्ञान खतम होता है वहा विद्याका आरभ होता है यूनिवर्सिटीका अध्ययन पूरा करनेका अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने प्रयत्नसे विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप निजाधार बनें, निराधार न रहे।

आप बाल्यावस्थामे है। बाल-पदवी आपको प्राप्त है। बाल तो वह होता है जो बलवान् है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथमें

मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूगा बना लूगा। साराश यह कि आपको अपनी बुद्धि स्वतत्र रखनी चाहिए।

विद्यार्थियोके बारेमे मेरी यह शिकायत है कि उन्हे स्वतत्रतापूर्वक किसी बातपर सोचने ही नही दिया जाता। आजतक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाए विचार विद्यार्थियोके दिमागमें ठूस दिये जाय, फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो, कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) हो, कम्यूनलिस्ट (साप्रदायिकतावादी) हो या और भी कोई इष्ट या अनिष्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। एक जमाना था जब हमारे गुरु विद्यार्थियोको पूरा विचार-स्वातत्र्य देते थे। वे अपने शिष्योसे कहते कि हमारे दोषोका नही, अच्छी बातोका ही अनुकरण करो। गुरुको तो अपने उस शिष्यपर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरुकी बातको माननेसे इकार कर देता है। आजकल तो जो उठता है, अपनी ही बात मनवाना चाहता है। विद्यार्थियोके लिए यह एक बहुत बडा खतरा है। मानो ये लोग विद्यार्थियोका यत्रीकरण ही करना चाहते है। आपको ऐसे किसी यत्रका पुर्जा नही बनना चाहिए। आपको सत बनना है, पथ नही बनना है। सत वह है जो सत्यका उपासक होता है और पथ वह है जो किसी बने-बनाये पथपर जडवत् चलता है। आप लोग अलग-अलग यूनियनें बनाते है। इन यूनियनोमे रहनेके लिए एक खास विचार-प्रणालीका अनुसरण जरूरी होता है? मैं आपसे पूछता हू, शेरोका कभी कोई यूनियन बनता है क्या? यूनियन तो भेडोका बनता है। मेरा मतलब यह नही है कि दूसरोके साथ आपको सहकार ही नही करना है, अच्छी बातोमे सहकार जरूर करना है। लेकिन विचारोको स्वतत्र रखना है और सत्य-दर्शनके लिए उसमे आवश्यक परिवर्तन करनेको सदा तैयार रहना है। इसे ही सत्यनिष्ठ कहते है और बलवान बननेका यही रास्ता है।

बलवान बननेके लिए एक और जरूरी बात है सयम। मै इद्र हू। ये इद्रिया मेरी शक्तिया है। उनपर मेरा काबू होना चाहिए। विद्यार्थी-अवस्थामे आपको सयमकी महान् विद्या सीख लेनी है। जब आप

संयमकी शक्तिका सग्रह कर लेगे तो एकाग्रता भी, जो जीवनकी एक महान् शक्ति है, पा लेगे।

आप आख और पावका भेद समझे। आख सारी दुनियाके निरीक्षणके लिए खुली होनी चाहिए। उसको स्वैर-सचारकी पूरी आजादी होनी चाहिए। लेकिन पाव तो नियत मार्गपर चलने चाहिए। तभी प्रवास होगा। बारिशका सारा पानी अलग-अलग दिशाओमे जहा-तहा वह जाय तो नदी नही बनेगी। नदी बननेके लिए नियत दिशा चाहिए। सयम-की शक्ति इस दृष्टातसे समझ लीजिएगा।

एक बार मुझे विद्यार्थियोके 'तरुण उत्साही मडल' मे जाना पडा। मैने कहा कि उत्साही मडल तो वृद्धोके होने चाहिए। जिस राष्ट्रको अपने विद्यार्थियोको उत्साहित करनेकी जरूरत पडती है, वह राष्ट्र तो खत्म ही हुआ समझिए। तरुणोको धृतिकी आवश्यकता है। उसीसे उत्साह टिकता और कारगर होता है। जैसे गीतामे कहा है कि धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियोको राजनीतिमे भाग लेना चाहिए या नही। विद्यार्थियोको आत्मनीतिमे प्रवीण बनना है। हर बातमें उनको जागरूक रहकर अपनी नीति निश्चित करनी है। राज-नीतिमें विद्यार्थी साक्षी और अध्यक्ष बनकर रहें। हम अध्यक्ष उसे कहते है जिसकी आख सारी दुनिया पर रहती है। विद्यार्थी-दशामे आप जीवन-से सबधित सारे प्रश्नोपर अध्यक्षकी भूमिकासे निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आनेपर उनपर अमल करे।

कर्मयोगी बननेके लिए विद्यार्थियोको कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माणके बिना नि सशय ज्ञान भी नही होता। प्रयोगसे प्राप्त ज्ञान ही नि.सशय ज्ञान होता है। मै विद्यार्थियोसे पूछता हू, "आप लोग रोटी बनाना जानते है ?" वे कहते है, "नही, हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लडकियोका काम है।" रोटी पकाना अगर लडकियोका काम है तो रोटी खाना भी लडकियोका ही काम रहने दीजिए। अपने लिए 'ज्ञानामृत भोजन' रख लीजिए। जिन लोगोने लडकियो और लडकोके

कार्योंको इस तरह विभाजित किया, उन्होने दोनोको गुलाम बनानेका तरीका ढूढ निकाला है और ज्ञानको पुरुषार्थ-हीन बनाया है ।

श्रीकृष्ण बचपनमें हाथोसे काम करता था, मेहनत-मजदूरी करता था। इसीलिए गीतामें इतनी स्वतत्र प्रतिभाका दर्शन हमें होता है । हमे ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नही करनी है । तेजस्वी विद्या हासिल करनी है । जिस विद्यामे कर्त्तृत्व-शक्ति नही, स्वतत्र रूपसे सोचनेकी वुद्धि नही, खतरा उठानेकी वृत्ति नही, वह विद्या निस्तेज है । मै चाहता हू कि आप सब तेजस्वी विद्या प्राप्त करनेकी वृत्ति रखे ।

१९४८

: ६ :

नई शिक्षा-प्रणालीका आधार

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटीके लिए मजदूरी' । यह शब्द आपमेसे कई लोगोने नया ही सुना होगा । लेकिन यह नया नही है । टॉल्स्टॉयने इस शब्दका उपयोग किया है। उन्होने भी यह शब्द बादरेसा नामक एक लेखकके निबधोसे लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। इस विषयपर विचार ही नही, बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मै बीस सालसे करता आ रहा हू, क्योकि जीवनमें और साथ-साथ शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मै प्रथम स्थान देता हू ।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड है और चीनकी चालीस-पैंतालीस करोड । ये दोनो राष्ट्र प्राचीन हैं । इन दोनोको मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड तक हो जाती है । इतनी जनसख्या दुनियाका सबसे बडा और महत्वका हिस्सा हो जाता है । और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनो देश आज दुनियामें सबसे ज्यादा दुखी, पीडित और दीन हैं । इसका कारण यह है कि इन दोनो मुल्कोने वृत्तिका जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका पूरा अनुसरण उन्होने नही किया और बाहरके

राष्ट्रोने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नही किया । मेरे कहनेका मतलव यह है कि हिंदुस्तानमे शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकारका हो, कातनेका हो, बढईका हो, रसोई वनानेका हो, सवका मूल्य एक ही है । भगवद्गीता मे यह वात साफ शव्दोमे लिखी है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या वडा काम मिला हो, अगर उसने उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है । अब उससे अधिक कुछ कहना बाकी नही रह जाता। मतलब यह है कि हरेक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है । इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नही, पर एक वडा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया । शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग । यहा जितना बडा शूद्रवर्ग है उतना वडा शायद ही किसी दूसरी जगह हो । हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया । उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा । उसे कुछ भी शिक्षा नही दी । इतना ही नही उसे अछूत भी वना दिया । नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया । वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा ।

प्राचीन कालमें हमारे यहा कला कम नही थी । लेकिन पूर्वजोंसे मिलनेवाली कला एक बात है और उसमे दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात । आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है । उसको देखकर हमे आश्चर्य होता है । अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमे आश्चर्य होता है, यही सबसे वडा आश्चर्य है । आश्चर्य करनेका प्रसग हमारे सामने क्यो आना चाहिए ? उन्ही पूर्वजोकी तो हम सतान है न ? तव तो उनसे बढकर हमारी कला होनी चाहिए । लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नही रहा । यह कैसे हुआ ? कारीगरोमे ज्ञानका अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठाका अभाव ही इसका कारण है ।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी । जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक, तत्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था । जो किसान था वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था । प्रात काल उठकर

भगवान्‌का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमे काम करने लग जाता था और सायकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणोको समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था । ब्राह्मणमे और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नही माना जाता था ।

हम जानते है कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे, यानी उतना ही सचय करते थे जितना कि पेटमे समाता था । यहातक उनका अपरिग्रही आचरण था । आजकी भाषामे कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले मे कम-से-कम वेतन लेते थे । यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते है । लेकिन बादमे ऊच-नीचका भेद पैदा हो गया । कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया । उसकी योग्यता कम, उसे खानेके लिए कम और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम ।

प्राचीनकालमें न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदातशास्त्र इत्यादि शास्त्रोके अध्ययनका जिक्र हम सुनते है । गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि शास्त्रोकी पाठशालाओका जिक्र भी आता है । लेकिन उद्योगशालाका उल्लेख कही नही आया है । इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रमधर्म माननेवाले थे, इसलिए हरेक जातिका धधा उस जातिके लोगोके घर-घरमें चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था । कुम्हार हो या बढई, उसके घर में बच्चोको बचपन हीसे उस धधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी । उसके लिए अलग प्रबध करनेकी आवश्यकता न थी । लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिताका ही धधा पुत्रको करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे । मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयोसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है । मै उनसे कहता हू कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है, इसका अगर आपको दु ख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्मका तो पालन कीजिए । बुनकरसे तो मै कहूगा कि अपने बापका धधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपडा मै नही लूगा तो वर्णाश्रम धर्म कैसे जिदा रह सकता है ? हमारी इस वृत्तिसे उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई । इसका

कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान् माना जाता है।

किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते है", तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वह पूरे किसान नही है।" इस कथनमे एक दश था। खेती और स्वच्छ धोतीकी अदावत है, इस धारणामें दश है। जो अपनेको ऊपरकी श्रेणीवाले समझते है उनको यह अभिमान होता है कि हम बडे साफ रहते है, हमारे कपडे बिल्कुल सफेद बगलेके पर-जैसे होते है। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जाच—मै मानसिक जाचकी तो बात ही छोड देता हू—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोके शरीरकी भी जाच की जाय और दोनो परीक्षाओकी रिपोर्ट डाक्टर पेश करके कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते है तो बाहरसे। उसमें अपना मुह देख लीजिए। लेकिन अदरसे हमें मलनेकी जरूरत ही नही जान पडती। हमारे लिए अदरकी मरम्मत ही नही होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमे शका होती है कि खेतीकी मिट्टीमे काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी में या खेतमे काम करनेवाले किसानके कपडेपर मिट्टीका रग लगता है, वह मैल नही है। सफेद कमीजके बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रगीन कपडा समझते है। वैसे ही मिट्टीका भी एक प्रकारका रग होता है। रग और मैलेमें काफी फर्क है। मैलमें जतु होते है, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगध' होती है। गीतामें लिखा है, "पुण्योगध पृथिव्याच"। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टीका रग किसानके कपडेपर है। तब वह मैला कैसे हो।

अपनी उच्चारण-पद्धतिपर भी हमे ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते है उसे हम अशुद्ध कहते है। लेकिन पाणिनि तो कहते है कि साधारण जनता जो बोली बोलती है वही व्याकरण है। तुलसीदासजीने रामायण आम लोगोके लिए लिखी। वह जानते थे कि देहाती

लोग 'प', 'श' और 'स'के उच्चारणमें फर्क नही करते । आम लोगोकी जवानमे लिखनेके लिए उन्होने रामायणमे सव जगह 'स' ही लिखा। वह नम्र हो गये । उनको तो आम लोगोको रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हीका होना चाहिए ।

हममेंसे कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कठ कर लेता है तो वह वडा भारी महात्मा वन जाता है । जप, सध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है । लेकिन दया, सत्य, परिश्रममें हमारी श्रद्धा नही होती । जो धर्म वेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं । जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है ? भक्ति और उत्पत्तिका भी कही मेल हो सकता है ? लेकिन वेद भगवान्मे हम पढते है—"विश्वकी उत्पत्ति करनेवालोको कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्वकी सृष्टिका रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधुकी कल्पना इससे उल्टी है । एक ब्राह्मण खेतमे खोदनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खीच दी तो वह तस्वीर खीचनेवाला पागल समझा जायगा । "क्या ब्राह्मण भी मजदूरके-जैसा काम कर सकता है ?" यह सवाल हमारे यहा उठ सकता है । "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है ?" यह सवाल नही उठता । वह मजेमें खा सकता है । ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसीको पुण्य मानते हैं ।

हिंदुस्तानकी सस्कृति इस हदतक गिर गई, इसी कारणसे वाहरके लोगोने इन ऊपरी लोगोको हटाकर हिंदुस्तानको जीत लिया । वाहरके लोगोने आक्रमण क्यो किया ? परिश्रमसे छुटकारा पानेके लिए । इसीलिए उन्होने वडे-वडे यत्रोकी खोज की । शरीर-श्रम कम-से-कम करके वचे हुए समयमे मौज और आनद करनेकी उनकी दृष्टि है । इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र अव यत्रोका उपयोग करने लग गया है । पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी चली जवतक दूसरोके पास मशीन नही थी । मशीनसे सपत्ति और सुख तभी तक मिला जवतक दूसरोने मशीनका उपयोग नही किया था । हरेकके पास मशीन आ जानेपर स्पर्धा शुरू हो गई ।

आज यूरोप एक वडा 'चिडियाखाना' ही वन गया है । जानवरोकी तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजडेमे पडा है और पडा-पडा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊ, क्योकि वह अपने हाथोसे कोई काम करना नही चाहता । हमारे सुधारक लोग कहते है—"हाथोसे काम करना वडा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीवसे छूट सके तो वडा अच्छा हो । अगर दो घटे काम करके पेट भर सके तो तीन घटे क्यो करे ? अगर आठ घटे काम करेगे तो कब साहित्य पढेगे और कब सगीत होगा ? कलाके लिए वक्त ही नही बचता ।"

भर्तृहरिने लिखा है—"साहित्यसगीत कलाविहीन साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीन"—जो साहित्य-सगीत-कलासे विहीन है वह विना पुच्छविपाण (पूछ और सीग) का पशु है । मै कहता हू—ठीक है, साहित्य-सगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-सगीत-कलावाला पुच्छविपाणवाला पशु है ।" भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था यह तो मै नही जानता, लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया । दूसरे एक पडितने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगोका समय काव्य-शास्त्र विनोदमें कटता है । मानो उनका समय कटता ही नही, मानो वह उन्हे खानेके लिए उनके दर-वाजेपर खडा है । काल तो जाने ही वाला है । उसके जानेकी चिंता क्यो करते हो ? वह सार्थक कैसे होगा, यह देखो । शरीर-श्रमको दु ख क्यो मान लिया है, यही मेरी समझमे नही आता । आनद और सुखका जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है ।

एक अमेरिकन श्रीमान्से किसीने पूछा, "दुनियामे सबसे अधिक धनवान् कौन है ?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेद्रिय अच्छी है, वह ।" उसका कहना ठीक है । सपत्ति खूव पडी है । लेकिन दूध भी हजम करनेकी ताकत जिसमे नही है उसको उस सपत्तिसे क्या लाभ ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है ? काव्यशास्त्रसे तो "कालो गच्छति ।" उससे पाचनेद्रिय थोडे ही मजबूत होनेवाली है । पाचनेद्रिय तो व्यायामसे, परिश्रमसे मजबूत होती है । लेकिन आजकल व्यायाम भी पद्रह मिनिटका निकला है । मैने एक किताव देखी—"फिफटीन मिनिट्स एक्सरसाइज ।"

ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी, इसकी चिता ही नही होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनिटमे एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्रमे कैसे लग जाय, यही फिक्र है। थोडे ही समयमे एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु बनते है, नसें नही बनती। और अमरबेल जिस प्रकार पेडको खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते है। नसे आरोग्यको बढाती है। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती है और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घटे हम लगातार हवा लेते है, लेकिन अगर हम यह सोचने लगे कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यो उठाये, दो घटेमे ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पडेगा कि हमारी सस्कृति आखिरी दर्जेतक पहुच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढते-पढते आख बिगड जाती है तो हम ऐनक लगा लेते है लेकिन आखे न बिगडे, इसका कोई तरीका नही निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड गया है, भेदभाव बढ गया है और हमपर बाहरके लोगोका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षणकी दृष्टिसे परिश्रमका विचार करना है।

हमने शिक्षणकी जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है, क्योकि हम जानते है कि शरीरके साथ मनका निकट सबध है। आज-कल मनोविज्ञानका अध्ययन करनेवाले हमे बहुत दिखाई देते है। पर बेचारोको खुद अपना काम-क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नही होता। मनके बारेमे इधर-उधरकी किताबे पढ-पढकर दो-चार बाते कर सकते है। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्तन होता है। इसलिए सोलह सालतक लडकोकी पढाई होनी चाहिए, यह सिद्धात एक मानसशास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैने कहा, "क्या मनमे परिवर्तन होनेका भी कोई पर्व होता है? हम देखते है कि शरीर धीरे-धीरे बढता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊचा हो गया हो,

ऐसा नही होता । तो फिर मनमे ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है ?" वादमे मैंने उनको समझाया कि हड्डिया चौदह सालके बाद जरा तेजीसे वढती है और मनका शरीरके साथ सबध होनेसे दिमाग भी उसी हिसावसे तेजीसे विकसित होता है । शरीर और मन दोनो एक ही प्रकृतिमें, एक ही कोटिमें आते है ।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था । उसके ग्रथ पढते-पढते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे । शकराचार्यका जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता हैं वैसा उसके लेखोमे नही दीखता । उसका चरित्र वादमे मुझे पढनेको मिला । उससे मुझे मालूम हुआ कि कर्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी, तब मुझे उसके लेखन-दोपका कारण मिल गया । मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका लेखन कुछ टेढा-मेढा होता होगा । योगशास्त्रमें तो मन शुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि वतलाई गई है । हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार वही है । शरीर-वृद्धिके साथ मनोवृद्धि होती है । लडकोकी मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए ।

परिश्रमसे उनकी भूख बढेगी । जिसको दिनभरमे तीन वार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए । भूख लगना जिंदा मनुष्यका धर्म है । जिसे दिनभर मे एक ही दफा भूख लगती है, सभवत उसका जीवन अनीतिमय होगा । भूख तो भगवान्‌का सदेश है । भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती । फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अदर न होती । किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका कैसे मिलता ? सामने यह खभा खडा है । इसका हम क्या सत्कार करेगे ? इसको न भूख है, न प्यास । हमे भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है ।

लडकोंसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए । क्लासमें झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते है या लडके झाड़ू लगाते है । शिक्षकको हम कभी झाड़ू लगाते नही देखते । विद्यार्थी क्लासमे पहले आ गए तो वे झाड़ू लगा ले, कभी

शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है! फिर शिक्षक भला वह कैसे करे? हम लडकोको झाड़ू लगानेका भी काम देगे तो शिक्षककी दृष्टिसे। जो परिश्रम लडकोसे कराना है, वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लडकोके साथ करना चाहिए। मैने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लडकिया वहा आई थी। तब उनको मैने वह दिखाई और उसमें कितनी बाते भरी है यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बातें मैने कही वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा ली। लेकिन यह मै तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मै खुद कर चुका था। इस तरह हरेक चीज शिक्षणकी दृष्टिसे लडकोको सिखानी चाहिए। एक आदमीने मुझसे कहा, "गाधीजीने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढा दी।" मैने कहा, "मै ऐसा नही मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नही बढाई। परिश्रमकी निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्माको प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तानमे गोपाल-कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालनने उन्हे दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनियाकी हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मै धूपमें घूम रहा था। चारो तरफ बडे-बडे हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मै सोचने लगा कि ऊपरसे इतनी कडी धूप पड रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे है? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझमे आ गया कि जो वृक्ष ऊपरसे इतने हरे-भरे दीखते है उनकी जडे जमीनमे गहरी पहुची है और वहासे उन्हे पानी मिल रहा है। इस तरह अदरसे पानी और ऊपरसे धूप, दोनोकी कृपासे यह सुदर हरा रग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अदरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्याकी धूप मिले तो हम भी पेडोके-जैसे हरे-भरे हो जाय। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नही देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगोके लिए भगवान्‌का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नही।

किताबे पढनेसे ज्ञान मिलता है, यह खयाल गलत है। पढते-पढते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढते है वही ठीक लगता है। एक भाई

मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवादकी किताब पढी तो वे विचार ठीक जान पडे। बादमे गाधी-सिद्वातकी पुस्तक पढी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोदमे उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजेके लिए दूसरी।" मेरे कहनेका मतलब यह है कि बहुत पढनेसे हमारा दिमाग स्वतत्र विचार ही नही कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबे निकली तबसे स्वतत्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफमे एक सवाद आया है कि मुहम्मद साहबसे कुछ विद्वान् लोगोने पूछा, "तुम्हारे पहल जितने पैगबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नही दिखाते, तो फिर पैगबर कैसे बन गए ?" उन्होने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते है ? एक बीज बोया जाता है, उसमे से बडा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमे फूल लगते हैं और उनमेसे फल पैदा हो जाते है। यह क्या चमत्कार नही है ?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होने यह दिया, "मुझ-जैसा अनपढ आदमी भी आप लोगोको ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है ? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते है ?" हमारे सामनेकी सृष्टि ज्ञानसे भरी है। हम उसकी तहतक नही पहुचते, इसलिए उसमे जो आनद भरा है, वह हमे नही मिलता।

रोटी बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते है। लेकिन माताका असली माता-पन उस रसोईमे ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चोको प्रेमसे खिलाना—इसमे कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है ? रसोईका काम यदि माताके हाथोसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करनेका यह मौका कोई माता छोडनेके लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मै स्त्रियोपर रोटी पकानेका बोझ लादना चाहता हू। मै तो उनका बोझ हलका करना चाहता हू। इसीलिए हमने आश्रममे रसोईका काम मुख्यत पुरुषोसे ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई-का काम माता छोड देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला

जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रमसे घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो वैठेंगे ।

लोग मुझसे कहते है, "तुम लडकोंसे मजदूरी कराना चाहते हो । उनके दिन तो गुलावके फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके है ।" मै कहता हू विल्कुल ठीक । लकिन वह गुलावका फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो । वह पूर्ण रूपसे स्वावलवी है । जमीनसे सव तत्त्व चूस लेता है । खुली हवामें अकेला खडा होकर धूप, वारिश, वादल सव सहन करता है । वच्चोको भी वैसा ही रखो । मै यह पसंद करता हू । उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमे, चद्रकलाको घटती-वढती देखनेमे आनद आता है, या कितावोमें और व्याकरणके नियम घोटते रहनेमे ? सुरगाव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है । वहा एक प्राथमिक पाठशाला है । करीब ७ से ११ सालके लडके उसमे पढते है । गाववालोकी राय है कि वहाका शिक्षक अच्छा पढाता है । परीक्षाके एक या दो महीने वाकी थे, तव उसने सुवह ७ से १०।। तक और दोपहरमे २ से ५।। तक,और रातको फिर ७ से ९ वजे तक—यानी कुल नौ घटे पढाना शुरू किया । न मालूम इतने घटे वह क्या पढाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढते होगे । अगर लडके पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढाया है । इस तरह ९-९ घटे पढाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है । लेकिन मै तीन घटे कातनेकी वात कहू तो कहते है, "यह लडकोको हैरान करना चाहता है ।" ठीक ही है । जहा वडे कामसे वचनेकी फिक्रमें हो वहा लडकोको काम देनेकी वात भला कौन सोचे ?

फिर लोग यह पूछते है कि, "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया । लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यो ?" मेरा जवाव यह है, "लडकोको तो जव कोई चीज वनती है तभी आनद आता है । वेचारे मेहनत भी करे और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमे उन्हे आनद आ सकता है ? किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लकिन उसमें गेहू न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा कि फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलव ? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाए और छाती मजवूत वनानेके लिए ? ऐसे उद्योगमे क्या कुछ आनद आ

सकता है। वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगी। अत उत्पादनमे ही आनद है।

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रमकी महिमाको हम समझे। प्राइमरी स्कूलोमे हम उद्योगके आधारपर शिक्षण न देगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेगे।

आज गाववाले कहते है कि "लडका स्कूलमे पढने जाता है तो उसमे कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यो भेजे ?" लेकिन हमारी पाठशालाओमे अगर उद्योग शुरू हो गया तो मा-बाप खुशीसे अपने लडकेको स्कूल भेजेंगे। लडका क्या पढता है, यह भी देखने आयगे। आज तो लडकेकी क्या पढाई हो रही है, यह देखनेके लिए भी मा-बाप नही आते। उनको उसमे रस नही मिलता। उद्योगके पढाईमे दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पडेगा। गाववालोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नही हो सकता। वह गाववालोके पास जायगा और अपनी कठिनाइया उनको बतायेगा। स्कूलके बगीचेमे अच्छे पपीते नही लगते तो वह उसका कारण गाववालोसे पूछेगा। फिर वे बतायगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो, खाद खराब होनेसे पपीतेमे कीडे लग जाते है। हम समझते है कि कृषि-कालेजमें पढे हुए है, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहारमे नही लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नही करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नही होती। अगर हम गाववालोका सहयोग चाहते है, उनके ज्ञानसे अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूलमे उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमे सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोमे प्रेम, आनद और श्रमके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

: ७ :

ब्रह्मचर्यका अर्थ

यो तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बाते पाई जाती है। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवान्का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममे पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियोने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले है वे दूसरे धर्मो मे पाये जाते है। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोमे नही देख पडता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नही है। लेकिन उस भाषामे शब्द नही है इसका मतलब यह नही कि उन लोगोमें कोई सयमी हुआ ही नही। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग सयमी जीवन बिताते है। लेकिन ब्रह्मचर्याश्रमकी वह कल्पना उन धर्मोमे नही है जो हिंदू-धर्ममे पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्य के जीवनको आरभमे अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको, जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है। बडा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य-जीवनका हाल है। यह खाद अगर अततक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवनके आरभ-कालमें तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोको दूध देते है। उसे वह अत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है, लेकिन अगर नही मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरभ-कालमें अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोडा-सा अनुभव अपने बच्चोको भी मिले, इस दयादृष्टिसे उन्होने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हू कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्यकी अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नही होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे

काम नही आयेगा। 'सत्य वद' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्यके काममे आती है। विपय-वासना मत रखो, यह ब्रह्मचर्यका 'निगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इद्रियोकी शक्ति आत्माकी सेवामे खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मै चाहता हू कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करू, उसके ही काममे अपनी सब शक्ति खर्च करू, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्दसे डरिये नही। मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामे सबकुछ अर्पण कर दूगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'जागिये रघुनाथ कुवर' कहकर जगाते थे वैसे ही वह उस लडकेको जगाता है, तो उस लडकेकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हे बीडी पीनेकी आदत थी। सौभाग्यसे उनके एक लडका हुआ। तब उनके मनमे विचार आया कि मुझे बीडीका व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगडा सो बिगडा, लेकिन अब मेरा लडका तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लडकेके लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीडी छोड ही देनी चाहिए। और तबसे उनकी बीडी छूट गई। यही कल्पना थोडी-सी आगे बढकर देशसेवाकी कल्पना उनके मनमे आती तो वे सपूर्ण ब्रह्मचर्यका असानीसे पालन कर सकते। देशकी सेवा कोई ब्रह्मभावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसमे उसे कष्ट जरूर उठाने पडेगे, लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होगे। माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मागने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नही दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमे दे देगी—"मैने तो लडकेकी कुछ भी सेवा नही की।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यो? इसका कारण है। माताके हृदयमे बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले उसकी कुछ भी सेवा नही हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमे उसे कष्ट कुछ कम नही सहने पडे है, लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नही हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत्

कल्पना रखेगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नही किया। इद्रियोका निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नही दिखाई देता। लेकिन किसी वृहत् कल्पनाके लिए हम इद्रिय-निग्रह करते है तो 'यह हम करते है', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नही रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यो कहिए कि निग्रह ही हमे करना है। भीष्म पितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके सतोपके लिए मुझे सयम करना है। बस, पिता का सतोप ही उनका ब्रह्म हो गया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योमें भी हुए है। एक वैज्ञानिककी बात कहते है कि वह रात-दिन प्रयोगमे मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नही है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहनके लिए 'बधु-सेवा' ब्रह्मकी सेवा हो गई। देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूढिए। अगर किसीने हिदुस्तानके गरीब लोगोको भोजन देनेकी कल्पना अपने सामने रखी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नही है, जो कुछ है वह गरीब जनताका है। 'जनताकी सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरेक काममें उसे गरीबोका ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमे विचार आ जायगा कि मै तो निर्बल हू, इसलिए मुझे दूध पीना पडता है, पर गरीबोको दूध कहा मिलता है ? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोकी सेवा करनेके लिए दौड जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करनेमे अगर हम मग्न हो जाय तो उस दशा में विषय-वासना कहासे रहेगी ? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी। रसोईमे कभी-कभी नमक भूलसे दुबारा पड जाता था। लेकिन चित्तमे मै इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैने अनुभव किया कि देह मानो है ही नही, कोई लाश पडी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियोने कहा है कि 'बचपनसे वेदाध्ययन करो।'

मैने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा । उसके बाद देशकी सेवा करता रहा । वहा भी इद्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी । लेकिन बचपनमे इद्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था, इसलिए बादमे मुझे वह कठिन नही मालूम हुआ । मै यह नही कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है । हा, विशाल कल्पना मनमें रखेगे तो आसान है । ऊचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए सयमी जीवनका आचरण, इसको मै ब्रह्मचर्य कहता हू ।

यह हुई एक बात । अब एक दूसरी बात और है । किसी एक विषयका संयम और बाकीके विषयोका भोग, यह ब्रह्मचर्य नही है । कल मैंने देवशर्मा-जीकी 'तरगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी । उसमे 'जरा-सा' के विषयपर कुछ लिखा था । पुस्तक मुझे अच्छी लगी । 'इतना थोडा-सा करनेसे क्या होता है', ऐसा मत सोचो । बोलनेमें, रहन-सहनमे हरेक बातमें सयमकी आवश्यकता है । मिट्टीके बर्तनमें थोडा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमे पानी भरेंगे ? एक भी छिद्र घडेमे है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है । ठीक उसी तरह जीवनका हाल है । जीवनमें एक भी छिद्र नही रखना चाहिए । चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आकाक्षा है । बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरा सभी बातोमें सयम रखना चाहिए ।

: ८ :

साक्षर या सार्थक ?

किसी आदमीके घरमे यदि बहुत-सी शीशिया भरी रखी हो तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते है । पर किसीके घरमें बहुत-सी पोथिया पडी देखें तो हम उसे सयाना समझेंगे । यह अन्याय नही है क्या ? आरोग्यका पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशीका व्यव-हार न करो । वैसे ही जहातक सभव हो, पोथीमे आख न गडाना या कहिये आखोमे पोथी न गडाना, यह सयानेपनकी पहली धारा है । शीशीको हम

रोगी शरीरका चिह्न मानते है। पोथी को भी—फिर वह सासारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदिया वीत गई, जिनके सयानेपनकी सुगध आज भी दुनियामे फैली हुई है, उन लोगोका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके वजाय सार्थक करनेकी ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमे विना ढूढे मिल जायगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहासने देखे है। वहुत वार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे 'अक्षराणा-मकारोऽस्मि' गीताके इस वचनमे कहे अनुसार 'सु'के वजाय 'अ' ही पसद करने लायक जान पडता है।

पुस्तकमे अक्षर होते है। इसलिए पुस्तककी सगतिसे जीवनको निरर्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "वातोकी कढी और वातोका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका ?" यह सवाल मार्मिक है। कविके कथानुसार पोथीका कुआ डुवाता भी नही और पोथीकी नैया तारती भी नही। 'अश्व' माने 'घोडा' यह कोशमें लिखा है। वच्चे सोचते है 'अश्व' शव्दका अर्थ कोशमें लिखा है, पर यह सही नही है। 'अश्व' शव्दका अर्थ कोशके वाहर तवेलेमे वधा खडा है। उसका कोशमें समाना सभव नही। 'अश्व' माने 'घोडा' वह कोशका वाक्य इतना ही वतलाता है कि 'अश्व शव्दका वही अर्थ है जो घोडा शव्दका है।' वह है क्या सो तवेलेमे जाकर देखो। कोशमे सिर्फ पर्याय शव्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नही रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जव यह वात अक्लमे आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाट लगेगी।

जिसने जपकी कल्पना ढूढ निकाली उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व-को सक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व विल्कुल भूकने ही लगा है, यह देखकर 'उसके मुहपर जपका टुकडा फेक दिया जाय' तो वेचारेका भूकना वद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी, उसे लूटने-के लिए देव, दानव और मानवके वीच झगडा शुरू हुआ। झगडा मिटता न

देखकर शकरजी पच चुने गये । उन्होने तीनोको तैंतीस-तैंतीस करोड श्लोक बाट दिये । एक करोड बचे । यो उत्तरोत्तर वाटते-वाटते अंतमे एक लोक बच रहा । रामायणके श्लोक अनुष्टुप् छदके है । अनुष्टुप छदके अक्षर होते है बत्तीस । शकरजीने उनमेसे दस-दस अक्षर तीनोको बाट दिये । बाकी रहे दो अक्षर । वे कौन-से थे ? 'रा-म' । शकरजीने वे दोनो अक्षर बटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये । शकरजीने अपना साक्षरत्व दो अक्षरोमे खत्म कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञानकी बराबरी न कर सका । सतोने भी साहित्यका सारा सार राम-नाममे ला रखा है । पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कलेना'—'इस अभागे पामर नरको यह नही सूझता ।'

सतोने रामायणको दो अक्षरो मे समाप्त किया । ऋषियोने वेदोको एक ही अक्षर मे समेट रखा है । साक्षर होने की हवस नही छूटती तो 'ॐ' कारका जप करो, बस । इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा माडूक्य उपनिपद् पढो । फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो । इस मतलबका एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद्मे आया है । उससे ऋपिका इरादा साफ जाहिर होता है । पर ऋषिका यह कहना नही है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए । एक या अनेक अक्षर रटनेमे जीवनकी सार्थकता नही है । वेदोके अक्षर पोथीमे मिलते है, अर्थ जीवन में खोजना है । तुकारामका कहना है कि उन्हें सस्कृत सीखे बिना ही वेदोका अर्थ आ गया था । इस कथनको आजतक किसीने अस्वीकार नही किया । शकराचार्यने आठवे वर्षमे वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्यने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरुसे पूछा, "महाराज, आठ वर्षकी उम्र में आचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया ?" गुरुने गभीरतासे उत्तर दिया, "आचार्यकी बुद्धि बचपनमे उतनी तीव्र नही रही होगी, इसीसे उन्हे आठ वर्ष लगे ।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योकि 'मर्ज बढता गया ज्यो-ज्यो दवा की ।' अतमें किसीकी सलाहसे उसने खेतमे काम करना शुरू किया । उससे नीरोग होकर थोडे ही दिनोमे हृष्ट-पुष्ट हो गया । अनुभवसे सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगोको बतलाने लगा ।

किसीके हाथमें शीशी देखी कि वडे मनोभावसे सीख देता, "शीशीसे कुछ होने जानेका नही, हाथमें कुदाल लो तो चगे हो जाओगे।" लोग कहते है, "तुम तो शीशिया पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे सयानापन सीखनेकी मनुष्यकी इच्छा नही होती। उसे स्वतत्र अनुभव चाहिए, स्वतत्र ठोकर चाहिए। मै हितकी वात कहता हू कि "पोथियोसे कुछ फायदा नही है। फिजूल पोथियो-में न उलझो" तो वह कहता है, "हा, तुम तो पोथिया पढ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो।" "हा, मै पोथिया पढ चुका, पर तुम न चूको इसलिए कहता हू।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खानेका स्वातत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहासके अनुभवसे हम सवक नही लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहासकी कद्र करे तो इतिहाससे आगे वढ जाय। इतिहास-की कीमत न लगानेसे उसकी कीमत नाहक वढ गई है, पर जव इस ओर ध्यान जाय तव न !

: ६ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रासकी राज्यक्रातिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेयर नामक ग्रथकारों के नाम वहुत प्रसिद्ध है। इन ग्रथकारोकी भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति तेजस्वी, जीवत और क्रातिकारक है। लोगोमें जितनी धाक इनकी लेखनी की थी, उतनी वडे-वडे वलवान राजाओके शस्त्रवलकी भी नही थी। फ्रासकी राज्यक्राति इनके लेखकोका मूर्ध, परिणाम थी। इन दोनो लेखकोमें-से रूसो विशेष भावना प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा-शास्त्रका अध्ययन नही किया था। उसके विचार उसके हृदयमें समाते नही थे, वाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतके जलते हुए रसकी भाति, वल्कि उससे भी वढकर, दाहक होते थे

और उसकी इच्छाके विरुद्ध--'अनिच्छन्नपि'--बाहर निकलते थे। उसके लेखो द्वारा उसका हृदय वोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे वौद्धिक या तार्किक कसौटीपर भले ही खरे न उतरे, तो भी परिणामत वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पडा है। 'मृतजीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'--उसके लेखोका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विपयक मतोका मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए--(१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका सपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इद्रियोका चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोका सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि वौद्धिक शक्तियोका प्रगल्भ और प्रखर बनना--इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमे होता है। दूसरे शब्दोमे, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास--निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमे जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षणसे होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टि से बाह्य जगत्मे कैसे उपयोग किया जाय, इस सबधमे दूसरे मनुष्योके प्रयत्नसे जो वाचिक, साप्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामे मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण सज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोडनेवाली सधि है। वस्तुत यह वात कोई विशेप महत्व नही रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है। यह सव सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमे अतर होना स्वाभाविक है। रूसोके किये हुए तीन विभाग तो आवश्यक ही है, ऐसी कोई बात नही है, क्योकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण वाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस

दृष्टिसे, अगर हम अंत शिक्षण और बाह्य शिक्षण, ये दो ही विभाग करे तो क्या हर्ज है ?

परतु इससे भी आगे बढकर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्यशिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अत शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका वही एकमात्र यथार्थ अथवा वास्तविक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योसे अथवा पाठशालामे ही नही मिलता। वह शिक्षण इस अनत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरतर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नही होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोमे प्रासादिक ग्रथ सचित है, पत्थरोमें दर्शन छिपे हुए है और यच्चयावत् पदार्थोंमे शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित है।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदिया, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढगसे शिक्षा देते है। नैयायिकोके अणुसे लेकर साख्योके महत्त्वतक, भूमिति (रेखागणित) के बिंदुसे लेकर भूगोलक सिंधुतक, या छुटपनकी भाषामे कहें, तो 'रामजी चोटीसे लेकर तुलसीके मूल'तक सारे छोटे-बडे पदार्थ मनुष्यके गुरु है। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओके दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यव-हार-विशारदोके चर्मचक्षुसे, कल्पनाकुशल कवियोके दिव्य-चक्षुसे या तार्किक तत्त्व-वेत्ताओके ज्ञान-चक्षुसे, जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होगे—अथवा न भी होते होगे—उनसब पदार्थोसे हमें नित्यपाठ मिल रहे है। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रथ है। उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रथ-गगा चा कितनी ही गभीर क्यो न हो, मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्वमेसे 'बाह्यत' हमे वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अदर' होगे। इसका अनुभव हरेकको है। हम इतने विषय सीखते है, इतने ग्रथ पढते है, इतने विचार सुनते है, इतनी चीजे देखते है, उनमेंसे कितनी हमें याद रहती है ? साराश बाह्य जगत् से हम जो कुछ सीखते है, वह सब भुला देते है। उसकी जगह केवल सस्कार बाकी रह जाते है। बल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए सस्कार ही है। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे

'अदर' नही है, वह बाहरसे आना असभव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतत्र या तात्त्विक पदार्थ नही है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसगमे हमेशा एक दुहेरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य शिक्षणको मिथ्या माने, तो सस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य-निमित्त या आलबन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य शिक्षणको सत्य या भाव-रूपमे माने, तो ऊपर कहे अनुसार उसका अतर-विकासके अनुकूल अश ही, और वह भी सस्कार-रूपमें, शेप रहता है। अर्थात् उभय पक्षमे विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामे इन दोनो शिक्षणोका परस्पर सवध क्या माना जाय ? परतु यह विवाद नया नही है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नही है। सभी शास्त्रोमें इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते है और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदाती विवाद कि 'सुखका बाह्य पदार्थोसे क्या सबध है', लीजिए। वहा भी वही गुत्थी है। अगर आप कहे कि बाह्य पदार्थोसे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए, लेकिन ऐसा होता नही है। यदि मन स्थिति बिगडी हुई हो, तो दूसरे अवसरो पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नही दे सकते। इसके विपरीत यदि कहे कि बाह्य पदार्थोमे सुख नही है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नही होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, 'इच्छा ही घोडा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुडसवार हो जाता।' लेकिन ऐसा हो नही सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तब इन समस्याका समाधान कैसे हो ?

इसी तरहका दूसरा दृष्टात न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या सबध है'? अगर आप कहे कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीसे पानी भरकर दिखाइए। मिट्टी अलग और मटका अलग कहे तो हमारी मिट्टी हमे दे दीजिए, अपना घडा लेते जाइए। ऐसी हालतमे इन दोनोका क्या सवध माना जाय ? यदि हम शुद्ध हिंदी मे कहे कि हम बतला नही सकते कि इस सवधका क्या स्वरूप है,तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस सवधको 'अनिर्वचनीय सवध' यह भव्य और प्रशस्त सस्कृत नाम दिया गया है।

परतु इस सवधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्ष में जिस प्रकार 'वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या'---ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरे पक्षमे अत -शिक्षण भावरूप और वाह्य शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा मकता है ।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है । हमने शिक्षाके दो विभाग किये हैं । उनमेंसे अत -शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हरेक व्यक्तिके अदर-ही-अदर होता रहता है । उसके लिए हम कुछ भी कर नही सकते । उसका कोई पाठचक्रम नही वनाया जा सकता । और यदि वनाया भी जाय, तो उसपर अमल नही किया जा सकता । वाह्यशिक्षण सामान्यत और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप करार दिया गया है । "ऐसी अवस्थामे 'न हि शशक-विषाणा कोऽपि कस्मै ददाति' इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही है क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपातत जैसे लाजवाव या मुहतोड मालूम होता है, वस्तुत वैसा नही है । कारण, जव हम यह कहते है कि वाह्य-शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फक्शन) है, तव हम यह तो नही कहते कि वह 'कार्य' ही नही है । वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परतु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमे कहना होता है । निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतत्र तत्त्व उत्पन्न करना नही है । सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है । इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते है, उस अर्थमे नही है । लेकिन इतनेसे शिक्षण निरुपयोगी नही हो जाता । शिक्षण उत्तेजक दवा नही है, वह प्रतिवध-निवारक उपाय है । रस्किनने शिल्पकलाकी भी ऐसी ही व्याख्या की है । शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेंसे मूर्त्ति उत्पन्न नही करता । वह तो उसमें है ही । सिर्फ छिपी हुई है । उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है । इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है । और चाहे प्रति-वध-निवारणके अर्थमें ही क्यो न हो, उसमें थोडी-सी भावात्मकता है ही । इसी अर्थको ध्यानमें रखकर ऊपर, तारतम्यसे (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है । शिक्षण

आत्मविकासकी तुलनामे अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोडा है।

लेकिन हमने शिक्षाका भाव बेहद बढा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहा किसी लडकेकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कठ करनेको उत्साहित किया जाता है। लडकेका पिता अधीर हो उठता है। लडकेके दिमागमे कितना ठूसू और कितना नही, इसका उसे कोई विवेक नही रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमे भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मद हो, तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लडके जैसे-तैसे कालेजतक पहुचते है और फिर पिछड जाते है। और यदि कालेज में न पिछडे, तो आगे चलकर व्यवहारमे निकम्मे साबित होते है। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोडा तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेडना नही चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोडा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा ? घोडा भडक जायगा। खुद तो गड्ढेमे गिरेगा ही, अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओमें तो हरगिज नही बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहा विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहा शिक्षणका सारा आनद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लडकोसे जो कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेलमें व्यायाम होता है, लेकिन 'मै व्यायाम करता हू', यह बोध नही होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लड़के तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते है। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास-भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नही होती। साराश, खेल आनद होता है। वह नियम-रूप कर्त्तव्य नही होता। यही व्यायाम-शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है, इस कृत्रिम भावनाके बदले शिक्षण आनद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लडकोमें ऐसी भावना पाई जाती है ? 'शिक्षण आनद है' इस भावनाकी

बात तो छोड दीजिए, 'किंतु शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण दड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियोमें प्रचलित है। बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नही कि तुरत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमे बेडना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ ?—बेडनेकी जगह ! इसलिए इस पवित्र कार्यमे हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बडे कर्मचारी है।

लेकिन इसमे दोष किसका है ? शिक्षाके विषयमे हमारे जो विचार है और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभावका—अवलबन लिया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियोका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हे उसका बोध न हो, यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामे बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है, उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लडका, व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो, लेकिन वह 'मा आया' नही कहता। कारण, वह व्याकरण समझता है। वह व्याकरण' शब्द भले ही न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो, परतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नही करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते है, साधनके लिए साध्य नही। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा अरस्तूका तर्कशास्त्र पढनेका क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सके, अचूक अनुमान कर सके। दीया जब मद होने लगता है, तब छोटा लडका भी अदाज करता है कि शायद उसमें तेल नही है। उसके दिमागमें सारा तर्क होता है। हा, इतना अवश्य है कि वह 'पचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नही बना सकता। विद्यार्थीके भीतर तर्क-शक्ति स्वभावत होती है। शिक्षणका कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समय पर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाए, तमाम सद्गुण, मनुष्यमें बीजत स्वयभू है। हम उस बीजको देख नही सकते। लेकिन वह दिखाई नही देता, इसलिए उसका अभाव तो नही है।

परतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसद नही है। "मनुष्य स्वाभावत, दुर्बल है, अनीतिमान है, शिक्षणने उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है, उसे मनुष्य बनाना है। 'पापोह पापकर्माह पापात्मा पापसम्भव' यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे सपन्न होनेवाला है--इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रथोमें पाये जाते है। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है, तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमें उसका विशेष दोष नही है, बल्कि उसके जमानेकी परिस्थितिका दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतत्र बुद्धिके लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नही होते, तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढे जाते हैं और फिर रूसोके जमानेके फ्रांसकी स्थिति कैसी भीषण थी! भारतमे आज किस प्रकार इकतीस करोड जतुओका भयानक दृश्य नजर आता रहा है, उसी तरहकी हालत उस वक्तके फ्रासकी थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलत और अतिशय उत्कट मनुष्यका भावनामय एव विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीझ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमे मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमे शिक्षणसे थोडी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमे कितनी ही सहानुभूति क्यो न हो, तो भी इस प्रकारका--चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो--अनुचित है, इसमे सदेह नही। मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, ऐसा माननेमें निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नही हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक करना तर्क-दृष्टसे असभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूपमे दुष्ट ही हो, तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न अकारथ जायगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशु-वृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा, क्योकि आशा नष्ट होते ही दडका राज्य स्थापित हो जाता

हैं । कुछ लोग जोशमे आकर कहा करते है कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया । सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है । परतु, यदि यह सच होता, तो किसी भी शातिमय आदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता । स्वावलबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमे सरकारके भरोसे नही रहना चाहिए । लेकिन यदि इसका अर्थ यह हो कि हमें यह निश्चय हो गया हो कि अग्रेजोके हृदय नही है, उनकी कभी उन्नति ही नही हो सकती, तव तो नि शस्त्र आदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है । क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा हैं । जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नही है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह वेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, यह सावित होते ही शिक्षणकी प्राय सारी आशा नष्ट हो जाती है । फिर तो 'छड़ी पड़े छम-छम, विद्या आवे झम-झम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा । इसलिए विद्वान् तत्त्वज्ञो और शिक्षण-वेत्ताओ-ने भी यह शास्त्रीय सिद्धात मान लिया है कि मनुष्यके मनमे पूर्णताके सारे तत्त्व वीज-रूपमें स्वत -सिद्ध हैं ।

यह शास्त्रीय सिद्धात स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत सावित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक वनाना है, इस चालके आत्म-सभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते है । हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते हैं, लडकोके दिलोपर किसी-न-किसी वातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवाय विजय , अस्माकमेवाय महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं । यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है । ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिससे की विद्यार्थीको यह मालूम भी न पडे कि वह शिक्षण ले रहा है । लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुधली और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोको शिक्षण दे रहा है । जवतक गुरू अनन्य और सहज-शिक्षक नही होगा, तवतक विद्यार्थियोको सहज-शिक्षण मिलना असभव है । जव कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोवेल, पैस्टलाजी या मौंटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते हैं', तव साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-

शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है, इसमे जान नही है। शिक्षण कोई बीजगणितका सूत्र (फार्म्यूला) थोडे ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नही है और न शिक्षण देनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अदर है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण —'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है। परतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित अज्ञान हमे नही चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र' बरावर है 'व्यवस्थित अज्ञानके'। इसके सिवा इन शास्त्रोका कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण-शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति वनते नही है। ऐसे शास्त्रोकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है! 'एतत् वुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नही कर सकता, वह शास्त्र लोगोकी आखोमे धूल झोकनेका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाटच-शास्त्रका अध्ययन किया था? अलकार-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—वना है? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोका शब्द-सृष्टिसे वाहर कुछ अर्थ ही नही होता। यह महज भ्रम है। 'यास्तेषा स्वैर कथास्ता एव भवति शास्त्राणि'—'महापुरुषोकी स्वैर-कथाए ही शास्त्र है'—भर्तृहरिका यह एक मार्मिक वचन है। यहापर भी वही लागू होता है। 'जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नही सकता, परतु जो दिया जाता—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नही जानते। 'न विजानीमः' (केनोपनिषत्) शिक्षण-पद्धति पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थशून्य है। इनमें सिवा आत्म-वचनाके और कुछ नही धरा है। जीनेकी क्रियामेंसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमें विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कसरतके

विना ज्ञानकी भूख नही लगती। और वैसी हालतमे जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमे अदर घुसता है, उसे हजम करनेकी ताकत पचनेंद्रियोमे नही होती। सिर्फ भेजेमे किताबे ठूस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी वन जाता, तो पुस्तकालयकी आलमारिया ज्ञानी मानी जाती। लालचसे खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अतमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-सग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोकी दृष्टिसे सारा समाज एक वहुत वडा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु विना पुत्रके तो सद्गति नही होती, ऐसा सुनते है। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी?" ऐसी वेहुदी शका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही है। इसलिए लोक-सग्रहका प्रश्न महापुरुषोकी दृष्टिसे वालकोके शिक्षणका ही प्रश्न है। परतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-सग्रहका भी नाहक हौवा वनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेदारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पडा है। लोक-सग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नही है। लोक-सग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खुदको उलटा टाग लेनेके वरावर है। 'कर्त्ताहम', मैं कर्त्ता हू', यह अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानका नही। यहातक कि जहा 'कर्त्ताहम' यह भावना जाग्रत है, वहा यथार्थ कर्तृत्व ही नही रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिवध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-सग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छकराचार्यने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारण लोक-सग्रह', ऐसा लोक-सग्रहका निवर्त्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नही देता, उससे शिक्षण मिलता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-सग्रह करेगा नही, उसके द्वारा लोक-सग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नही है, उससे स्वाभाविक रूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहज कर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुदर सज्ञा ही है। 'निवृत्त-शिक्षण' यह सज्ञा

भी उसी ढगपर गढी गई है । जो ऐसा निवृत्त शिशण देते है, वे आचार्य ही समाज के गुरु है । वे ही समाजके पिता है । दूसरे 'भाडेके गुरु' गुरु नही और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नही है । ऐसे गुरुओके चरणोके निकट वैठकर जिन्होने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्य-मान कहलाने के गौरवके पात्र है । अन्य सव अनाथ बालक है । सव अशिक्षित है । ऐसा उदार शिक्षण कितनोके भाग्यमे लिखा होता है ?

'महाराष्ट्र धर्म', १९२३

: १० :

आत्माकी भाषा

हम जानते है कि दुनियाका पहला ग्रथ ऋग्वेद है । इसके पहलेका कोई लिखित ग्रथ हमको अबतक नही मिला । इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तुके रूपमे है । मैं देख रहा हू कि हिदुस्तानकी एकताका खयाल ऋग्वेदमें भी मौजूद है । ऋग्वेदका एक मत्र कहता है कि इस देशमे दो तरफसे—दो बाजुओसे—दो हवाएँ वह रही है । एक समुद्रकी तरफसे आती है, दूसरी पर्वतकी तरफसे । जिस समुद्रकी तरफ़से हवा आती है, उसको हम हिद महासागर कहते है । मै देख रहा हू कि हिमालयकी गहन गुफाओसे एक हवा आती है और दूसरी सिंधुसे बहती है । इस खयालसे हिदुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है । इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है । हम जो श्वासोच्छ्वास लेते है उसको उपमा वे ऋषि दे रहे है । वे कहते है कि प्रणायाम करनेवाले योगी अदर एक हवा लेते है और वाहर दूसरी हवा छोडते है । जैसे योगीके अदरकी गुफा और बाहरका अतरिक्ष दो भाग है वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है । भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है । हिमालयसे वायु छोडती है और समुद्रमे लेती है । अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिंदुस्तानकी एकता अभीकी नही है, वल्कि हजारो वर्ष पहलेकी है । रामायणमे एक स्थान

पर वाल्मीकिने श्री रामचद्रजीको समुद्रके समान गभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होने रामचद्रजीको एक राष्ट्र पुरुपके रूप में चित्रित किया है। हजारो वरस पहले ही जव पारस्परिक सबध के कुछ साधन नही थे तभी हमारे पूर्वजोने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक राष्ट्र मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नही है।

हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था ? हमारी सस्कृत भापा। उस समय हमारी भापा सस्कृत थी। अव सस्कृतके अनेक अग वन गए और अलग-अलग भापाए वन गई। अलग-अलग सूवोमे अलग-अलग भापाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल करते थे वे सस्कृतमें वोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरलमे पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार सस्कृत द्वारा किया, जवकि मलाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हें हिंदुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी ? अद्वैतकी दृष्टिमे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहा उनका जन्म हुआ था वहीपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी क्या जरूरत पडी ? एक और वात यह है कि वह हिंदुस्तानके वाहर नही गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होने एक राष्ट्रीयता का खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर परावर्ततक किया। लेकिन उनमे भी एक मर्यादा थी। उन्होने आम लोगोकी भापा छोडकर सिर्फ सस्कृतमे ग्रथ लिखे। उनके वादके सतोको लाचार होकर आम लोगोकी भापामें लिखना पडा, और सस्कृतको छोडना पडा। अलग-अलग भाषामे अलग-अलग ग्रथ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भापा हो जाने के कारण प्रातीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि अग्रेजोने लश्करके दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणी भाषा नही समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भापा नही समझते। अगर दक्षिण में वलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहापर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नही वता रहा हू। १८५७ के वलवे को मै भारतीय स्वातत्र्यका

संग्राम मानता हू । उसको दबानेके लिए मद्रासससे सेना भेजी गई थी । यद्यपि भारत हजारो सालसे एकत्र रहा, फिर भी बादको भाषाका सबध टूट गया और अग्रेजोने इसका फायदा उठाया । गाधीजीने देखा कि अगर हम एकराष्ट्र बनाना चाहते है और अपने प्राचीनतम राष्ट्रोको (जो हिमालय से सिंधुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते है तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है । अब सस्कृत राष्ट्रभाषा नही हो सकती । इसलिए अभी हिंदुस्तानमें जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा । इसलिए गाधीजीने हिंदी भाषाको सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करे । अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमें काग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमे आपके व्यवहारके लिए अग्रेजी काममे लाई गई । इस तरह हमारे पढे-लिखे आदमी अग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरूमे अग्रेजीसे काम चलाते थे । लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अग्रेजी सीखना मुश्किल है । वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नही हो सकती । यह बात सिर्फ गाधीजीको सूझी ।

जैसे हिंदीमे तुलसी-रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिल मे या बगलामे क्या सौ बरसके अदर ऐसा कोई उत्तम ग्रथ लिखा गया है, जो गाव-गावमें फैला हो ? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नही था जैसा हमारे यहा अब है । जैसे प्रिंटिंग प्रेस । प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यो नही हुआ ? मै तामिल नही जानता । लेकिन मेरे भाइयो-ने बताया है कि ऐसा कोई ग्रथ नही जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो । बहुत-से प्रकाशक मुझसे मिल चुके है । और मै उनसे पूछ आया हू कि आप प्रकाशक है या अप्रकाशक ? पुराने जमानेमे जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था । मगर आज हम मान बैठे है कि प्रिंटिंग प्रेससे हमारा काम बन गया । तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है । नागपुरमे मुझे जब तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया । आजकल छोटे बच्चोको (जो प्रारभिक शिक्षा पाते है) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमे सयुक्ताक्षर नही होते । नागरी और बगलामें सयुक्ताक्षरका प्रचार है । इसलिए वहा जो बिना सयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह कुछ

कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमें पचास सैकडे शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमे एक भी सयुक्ताक्षर नही है। यही तुलसीदासकी विशेषता है।

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामें अतर पड रहा है। हमारे ग्रथ आम जनता तक नही पहुंच सकते। सतोने देखा कि हमको देहाती भाषामे बोलना और लिखना चाहिए। गाधीजीने देखा कि जबतक अग्रेजी भाषामे सोचते रहेंगे, तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हू कि अग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बडा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नही है। पर अग्रेजीमें आत्मरक्षा हैं 'सेल्फ-डिफेंस'। हरेक भाषामे उसका अपना-अपना स्वतत्र भाव रहता है। जबतक हम अग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे, तबतक हममे स्वतत्र भाव पैदा नहीं होगा, यह गाधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अग्रेजीसे ही हमे ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो तो अग्रेजी पुस्तक पढना पर्याप्त समझते हैं। अग्रेजी नेत्र द्वारा ही सभी बातोको देखते हैं और खद अधे बनते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नही पाया है। अग्रेजी किताबो द्वारा ही ज्ञान-सपादन करते आये हैं। अग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन हो गये हैं। यहा ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढनेके बाद बच्चोको अग्रेजी पढाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढाईमे अग्रेजीको बिल्कुल स्थान नही दिया है, क्योकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते है और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढाना चाहते हैं। अग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते है तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नही होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामे सीखता है। यह सब-गाधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम दस करोड लोग तो अपनी भाषाको अच्छी तरह सीख पायगे, हिंदीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया।

२३ सालोमे, मैंने सुना है कि, दक्षिणमे करीब १२ लाख लोग हिंदी सीख चुके है।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूका झगडा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते है, हिंदुस्तानीको या उर्दूको ? तो मैं उनसे पूछता हू कि आप "माता' को चाहते है या 'मा' को ? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमें फर्क नही मालूम होता। दाढी बनानेमे और उसकी हजामत करनेमे जितना फर्क है उतना ही हिंदी और उर्दूमे है—बढी दाढी उर्दू है, सफाचट हिंदी, क्योकि हम देखते हैं कि दाढी १५ मिनटमे बढती है। अग्रेजीमे मिल्टन और वर्ड्सवर्थकी भाषामे जितना फर्क है उतना ही फर्क हिंदी और उर्दूमे है। दो-चार उर्दू शब्दो या सस्कृत शब्दोमे भाषा कभी नही बदलती। मैं मद्रासमें अब जो भाषा बोल रहा हू उसमें सस्कृत शब्दोका प्रयोग कर रहा हू। अगर मैं पजाब गया तो उर्दू शब्दोका, जो मैं जानता हू, इस्तेमाल करूगा। आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमे कुछ भी फर्क न करे। उनमे फर्क नही है। हिंदी और उर्दूमे जो सतुलन (बैलेंस) लाया गया है वह है हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंको और अनेक धर्मोको रहना है। इसलिए अगर यहा ऐसे छोटे-मोटे झगडे हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नही होगा। हम सब एक है, यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रातीय भाषाकी जगह नही लेती। मातृभाषाके लिए भी प्रेमकी जरूरत है। पाश्चात्य लोगोसे हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर इसमे देशप्रेम नही है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है ? वह देश-प्रेमका अपभ्रश है। राष्ट्रभाषा का अपभ्रश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोको मातृभाषाका अभिमान नही, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नही, राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते है। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध-विरोधी सदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमे प्रेम बढाना चाहते है और मानव-समाजको प्रेमकी नीवपर स्थापित करना चाहते है तो एक-दूसरेका सबध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नही देगी, रेडियो काम नही देगा, आपके अतरात्माका प्रेम काम देगा।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भापा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव-भापा एक है। यह हृदयके अतरतमकी भापा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिपद्में है वह ईसप्स फेबल्समे है। लडकोको ईसप्स फेबल्स पढनेमे बडा आनद आता है, क्योकि वे आत्माको पहचानते है। आत्माकी भापाके प्रचारमें राष्ट्रभापाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भापा जब समझ लेगे तब सबकी आत्माको समझेगे। स्त्री-पुरुपकी आत्मा एक है, हिंदू-मुसलमानकी आत्मा एक है, उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभापाका प्रचार है।

जनवरी, १९४२

: ११ :

साहित्य उल्टी दिशा

पिछले दिनो एक बार हमने इस बातकी खोजकी थी कि देहातके साधारण पढे-लिखे लोगोंके घरमे कौन-सा मुद्रितवाङ्मय पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पाच प्रकारका वाङ्मय पढा जाता है,

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास नाटक, गल्प, कहानिया आदि (४) भापामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रथ, (५) वैद्यक-सबधी पुस्तके।

उससे यह अथ निकलता है कि हम यदि लोगोके हृदय उन्नत करना चाहते है तो उक्त पाच प्रकार के वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊची उठ सकती है, यह ज्ञानदेवने दिखाया, और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे है!" (साहित्य सम्मेलन-के) अध्यक्षकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्गारका अर्थ "प्रवान्येन

व्यपदेश" सूत्रके अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नही लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरश प्रशात महासागरकी तहतक जा पहुचे है। मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनोसे लेना चाहिए। इस दृष्टिसे दु खपूर्वक स्वीकार करना पडता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमे दोष किसका है ? कोई कहता है कि सपादकोका, कोई कहता है पाठकोका, कोई कहता है पूजीपतियोका। गुनाहमे तीनो ही शरीक है, और "कमाईका हिस्सा" तीनोको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नही। परतु मेरे मतसे, अपराधी ये तीनो भले ही हो,—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पापका वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है ?—साहित्यकी व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विवादका वल, दूसरोका जी जलाना, जली-कटी या तीखी बाते कहना, मखौल (उपहास), (व्यग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आडी-टेढी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, सदिग्धता, प्रतारणा (कपट)" —ज्ञानदेवने ये वाणीके दोप बताये है, परतु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्ही अवगुणोको 'वाग्भूपा' या साहित्यकी सजावट मानते है। पिछले दिनो एक बार रामदासकी 'ओछी तबीयतवालोको विनोद भाता है', इस उक्तिपर कई साहित्यिक वडे गरम हो गये थे। रामदासके आशयपर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेनेके वदले इन लोगोने यह आविष्कार किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमे जो स्थान है, रामदास वही नही समझ पाये थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेवने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्यकी परिभापाके अनुसार—ज्ञानदेवके अज्ञानका ही फल समझेगे।

ज्ञानदेव या रामदासको राष्ट्र-कल्याणकी लगन थी और हमारे विद्वानोको चटपटी भापाकी चिता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यो न होता हो—यह इन दोनोमे मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभीतक मुझे पूर्ण अनुभव नही होता है। तो क्या, मेरे देव !

मैं केवल कवि ही बनकर रहूं।"—इन शब्दोमे तुकाराम ईश्वरसे अपना दुखडा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे है कि तुकारामके इस वचनमे काव्य कहातक सचा है। हमारी पाठशालाओकी शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबध पढा था। उसमे लेखकने तुलसीदासकी शेक्स-पीयरसे तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जेका है, इसकी-चर्चा की थी। मतलब यह कि तुलसीदासकी रामायण हिदुस्तानके करोडो लोगोके लिए—देहातियोके लिए भी—जीवनकी मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है। उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रणकी शैलीकी दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोको मेरे कथनमें कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पडता है कि इन शैली-भक्तोने राष्ट्रके शीलकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

शुकदेवका एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते है, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नही करते। उन्होने तो शृगारसे लेकर बीभत्सतक विभिन्न रस माने है और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमे ये रस हो। साहित्यकी यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमे कर्त्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोमे जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है?

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिदुस्तानके साहित्यिक इतिहासमे एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रथ है। अत राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड लोगोके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है,

नित्य परिचित और धर्म-जागृतिका एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी वह वेजोड कही जा सकती है। और रामभक्तिका प्रचार करनेमे 'शिष्यात् इच्छेत पराजयम्' इस न्यायसे वह अपने गुरु-वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका आनद दनेवाली है। इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी यह ग्रथ अपनी सानी नही रखता। तीनो दृष्टिया एकत्र करके विचार करने पर अन्वयालकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम-रावणके युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका अर्थ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचद्रका चरित्र, तिसपर तुलसीदासने उसे विशेप मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकोके हाथमे देने लायक निर्दोप तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसोका वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीतिकी मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमे नही मिलेगी। तुलसीकी भक्ति संयमित है। इस सयमित भक्ति और उद्दाम भक्तिका अतर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्तिका अतर है। साथ ही, तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म-रामायणसे अधिक सवध है। अधिकाश वर्णनोपर, खासकर भक्तिके उद्गारोपर, भागवतकी छाप पडी हुई है, गीताकी छाप तो है ही। महा-राष्ट्रके भागवत-धर्मीय सतोके ग्रथोसे जिनका परिचय है उन्हे तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नही मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही सयम। कृष्ण-सखा सुदामाको जिस तरह अपने गावमे वापस आनेपर मालूम हुआ कि कही मैं फिरसे द्वारकापुरीमे लौटकर तो नही आ गया, उसी तरह तुलसीदासजीकी रामायण पढते समय महाराष्ट्रीय सत-समाजके वचनोंसे परिचित पाठकोको 'हम कही अपनी पूर्व-परिचित सत-वाणी तो नही पढ रहे हैं', ऐसी शका हो सकती है। उसमे भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनोमें विशेप विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवतमे उतरी है। एकनाथके भागवतने

ही रानाडेको पागल वना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया, यह उनकी विशेपता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यत मर्यादाशील। इस कारण इस विपयमें उन्हें तुलसीदासजीसे दो नवर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजीकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकाडमे है। उसी काडमे उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकाडमे भरतकी भूमिका अद्‌भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदासकी ध्यानमूर्त्ति थे। इस ध्यानमूर्त्तिको चुननेमे उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनो ही रामके अनन्य-भक्त थे, लेकिन एकको रामकी सगतिका लाभ हुआ और दूसरे को वियोगका। पर, वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने सगतिका अनुभव पाया। हमारे नसीवमें परमात्माके वियोगमें रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके-जैसा सगतिका भाग्य हमारा कहा! इसलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह वदल सकते है इसे समझनेमे भरतका ही आदर्श हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक सगतिकी अपेक्षा मानसिक सगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन-रात नदीका पानी ओढे सोया हुआ पत्थर गीलेपनसे विल्कुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमे ही मानसिक सयोग हो सकता है, उसमें सयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगसे वढती ही है। आनदकी दृष्टिसे देखें तो साक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनद कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तोमें यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नही मागते, वे भक्तिमे ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ वाहरका वियोग स्वीकारकर अदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नही, परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी वडा था।

पर एक तो हमारी किस्मतमें वह है नही और फिर कुछ भी कहिए, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अगूर खट्टे है, सिर्फ यही नही

है, किंतु उपवास मीठा है, यह भी है। भरतके भाग्यमें उपवासकी मिठास है।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य'मे सन्यासीको लक्ष्यकर यह कटाक्ष किया है कि 'सन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है।' पर इस तानेको व्यर्थ कर देनेकी युक्ति भी हमारे साधु-सतोने ढूढ निकाली है। उन्होने लोभको ही सन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्तिकी नमक रोटीसे खुश है, मुक्तिकी ज्योनारके प्रति उन्होने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "भोग-मोक्ष निबलाण। पायातली" भोग और मोक्ष पैर तले पडे हुए (उतारा जैसे) है, "मोक्षाची सोडीबाधी करी" (मोक्षकी पोटलीको बाधती छोडती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी चीज है), "चहू पुरुपार्थां शिरी। भक्ति जैसी" (चारो पुरुषार्थोसे श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोमे भक्तिको भक्तिकी टहलुई बनाया है। और तुकारामसे तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्म-स्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्तिसे इस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीवर भक्ति" (मुक्तिसे भक्ति बढकर है) इस भावको एकनाथको अपनी रचनाओमे दस-पाच वार प्रकट किया है। इधर गुजरातमे नरसिह मेहताने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मागे" (हरिका जन मुक्ति नही मागता) ही गाया है। इस प्रकार अतत सभी भागवत-धर्मी वष्णवोकी परपरा मुक्तिके लोभसे सोलहो आने मुक्त है। इस परपराका उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमु-मुक्षुरेक"—इन दीन जनोको छोडकर मुझे अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नही है, यह खरा जवाव उन्होने नृसिह भगवान्को दिया। इस कलियुगमे श्रौतस्मार्त्त-सन्यास-मार्गकी स्थापना करनेवाले शकराचार्यने भी "ब्रह्मण्या-धाय कर्माणि सगत्यक्त्वा करोति य" गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए "सगत्यक्त्वा" का अर्थ अपने पल्लेसे डालकर "मोक्षेऽपिफले सगत्यक्त्वा' —"मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर", ये शब्द किया है।

तुलसीदासजीके भरत इस भक्ति-भाग्यकी मूर्त्ति है। उनका मागना तो देखिए—

धरम न अरथ न काम-रुचि
गति न चहउं निरबान।

जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन ।।

यों तिलकजीके तानेको सतोंने एकदम निकम्मा कर दिया ।

भरतमें वियोग-शक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है । इसीसे तुलसीदास-जीके वह आदर्श हुए । भरतने सेवा-धर्मको खूब निवाहा । नैतिक मर्यादाका सपूर्ण पालन किया, भगवान्‌का कभी विस्मरण नही होने दिया । आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया । पर उनका श्रेय रामके चरणोमे अर्पण-कर स्वय निर्लिप्त रहे । नगरमे रहकर वनवासका अनुभव किया । वैराग्य-युक्त चित्तसे यमनियमादि विषम व्रतोका पालनकर आत्माको देवसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया । तुलसीदास कहते है कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेमपियूष-पूरन होत जनम न भरत को ।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम विषय-व्रत आचरत को !
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को !
कलिकाल तुलसी-से सठहि हठि राम-सनमुख करत को !!

रामायणमें रामसखा भरत, महाभारतमें शकुतलाका पराक्रमी भरत और भागवतमे जीवन्मुक्त जड भरत, ये तीन भरत प्राचीन भारतमे विख्यात हैं । हिंदुस्तानको 'भारतवर्ष' सज्ञा शकुतलाके वीर भरतसे मिली, ऐसा इतिहासज्ञोका मत है, एकनाथने ज्ञानी जडभरतसे यह मिली, ऐसा माना है । सभव है, तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम-भक्त भरतसे मिली है । पर चाहे जो हो, आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग-भक्तिका आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है । तुलसीदासजीने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है । तदनुसार आचरण करना हमारा काम है ।

: १३ :

जीवनकी तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमे तीन बातोको प्रधान पद देता हू । उनमे पहली है उद्योग । अपने देशमे आलस्यका भारी वातावरण है । यह आलस्य बेकारी-के कारण आया है । शिक्षितोका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नही रहता, और जहा उद्योग नही वहा सुख कहा ! मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए । जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो, पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नही । घरोमे उद्योगका वातावरण होना चाहिए । जिस घरमे उद्योगकी तालीम नही है उस घरके लडके जल्दी ही घरका नाश कर देंगे । ससार पहले ही दु खमय है । जिसने ससारमे सुख माना है उसके समान भ्रममे पडा और कौन होगा ? रामदासजीने कहा है—"मूर्खमाजी परम मूर्ख । जो ससारी मानी सुख ।" अर्थात् वह मूर्खोंमे भारी मूर्ख है जो मानता है कि इस ससारमे सुख है । मुझे जो मिला, दु खकी कहानी सुनाता ही मिला । मैंने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है । पर ऐसे इस ससारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नही है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है । कपडा हरेकके लिए जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपडा तैयार कर सकता है । चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शातिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे सभाले । दु ख होने या मन उदास होनेपर चर्खेको हाथमें लेले तो फौरन मनको आराम मिलता है । इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमे लग जाता है और दु ख विसर जाता है । गेटे नामक कविका एक काव्य है । उसमे उसने एक स्त्रीका चित्र खीचा है । वह स्त्री बहुत शोक-पीडित और दु खित थी । अतमे उसने तकली सभाली । कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सात्वना मिली । मैं इसे मानता हू । स्त्रियोके लिए यह बहुत ही उपयोगी साधन है । उद्योगके

बिना मनुष्यको कभी खाली नही बैठना चाहिए । आलस्यके समान शत्रु नही है । किसीको नीद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नही कहूगा, लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमे नही बिताना चाहिए । इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री हो गये है, परतत्र हो गये है । इसीलिए हमे उद्योगकी ओर झुकना चाहिए ।

दूसरी बात, जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है । बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई सस्कार पडा है तो वह भक्तिमार्गका है । उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली । आगे चलकर आश्रममें दोनो वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड गई । इसलिए मेरे अदर वह खूब होगई । पर भक्तिके मानें ढोग नही हैं । हमे उद्योग छोडकर झूठी भक्ति नही करनी है । दिनभर उद्योग करके अतमे शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए । दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नही होती, बरन् सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा शामको भगवानको अर्पण करनी चाहिए । हमारे हाथो अनजाने हुए पापोको भगवान् क्षमा करता है । पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए । ऐसोंके पाप ही भगवान् माफ करता है । रोज १५ मिनट ही क्यो न हो, सबको—लडकोको, स्त्रियोको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए । जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए । मुझे तो ऐसा ही लगता है । सौभाग्यसे मुझे अपने आसपास भी ऐसी ही मडली मिल गई है । इससे मैं अपनेको भाग्यवान मानता हू । अभी मेरे भाईका पत्र आया है । बाबाजी उनके बारेमें लिख रहे है कि आजकल वह रायचद भाईके ग्रथ पढ रहे है । उन्हे उस साधुके सिवाय और कुछ नही सूझ रहा है । इधर उसे रोगने घेर रखा है, पर उसे उसकी परवा नही है । मुझे भाई भी ऐसा मिला है । ऐसे ही मित्र और गुरु मिले । मा भी ऐसी ही थी । ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान कहते हैं—मैं योगियोके हृदयमें न मिलू, सूर्यमें न मिलू और कही न मिलू, जो जहा कीर्तन-नामघोष चल रहा है वहा तो जरूर ही मिलूगा । लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है, नही तो वह ढोग हो जायगा । मुझे इस प्रकारके भक्तिमार्गकी धुन है ।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है, पर सबके वापूकी वह चीज नही हो सकती । वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना । जिसे जो आता है वह उसे दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे । कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये । भजन सिखाये, गीता-पाठ कराये, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये । पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नही है । पांच-छ घटे बच्चोंको बिठा रखनेमे उनकी तालीम कभी नही होती । अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमे एक-आध घटा सिखाना काफी है । काममें-से ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए । क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा । इसी प्रकारसे उन्हे उद्योग सिखाकर उसीमें शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मा 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ रही थी । उसे पढना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ रही थी । एक दिन एक भजनके पढनेमे उसने १५ मिनट खर्च किये । मै ऊपर बैठा था । नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया । और पढाकर देखा, पद्रह-बीस मिनटमे ही वह भजन उसे ठीक आ गया । उसके बाद रोज मै उसे कुछ देर तक बताता रहता था । उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी । इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो, वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए । यह सबसे बन आनेकी बात नही है । पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है । उन्हे करना चाहिए, और इस उद्योगके सिवाय मुझे तो सुखका दूसरा उपाय नही दिखाई देता है ।

: १४ :

गांधीजीकी सिखावन

अभी इस समय दिल्लीमें जमुना नदीके किनारेपर एक महान् पुरुष-की देह अग्निमे जल रही है । हम यहा जिस तरह अब प्रार्थना कर रहे है उसी तरह हिंदुस्तानभरमे प्रार्थना चल रही है । कलके ही दिन । शामके

पाच वज गये थे । प्रार्थनाका समय हुआ और गाधीजी प्रार्थनाके लिए निकले । प्रार्थनाके लिए लोग जमा हुए थे । गाधीजी प्रार्थनाकी जगहपर पहुचे ही थे कि किसी नौजवानने आगे झपटकर गाधीजीकी देहपर गोलिया चलाईं । गाधीजीकी देह गिर पडी । खूनकी धारा वहने लगी । वीस मिनटोंके वाद देहका जीवन समाप्त हुआ । सरदार वल्लभभाईने एक वात वडे महत्त्वकी कही । वह यह कि गाधीजीके चेहरेपर दया-भाव तथा माफीका भाव, यानी अपराधीके प्रति क्षमावृत्ति, दिखाई देती थी । आगे चलकर वल्लभभाईने कहा कि इस समय कितना ही दु ख क्यो न हुआ हो, गुस्सा नही आने देना चाहिए और यदि आये भी तो उसे रोकना चाहिए । गाधीजीने जो चीज हमें सिखाई उसका अमल उनके जीते-जी हम नही कर पाये । लेकिन अव उनकी मृत्युके वाद तो करे ।

ऐसी ही घटना पाच हजार साल पहले हिंदुस्तानमे घटी थी । भगवान् श्रीकृष्णकी उमर ढल गई थी । जीवनभर उद्योग करके वे थक गये थे । गाधीजीकी तरह उन्होंने जनताकी निरतर सेवा की थी । थके हुए एक वार जगलमें वे किसी पेडके सहारे आराम ले रहे थे । इतनेमे एक व्याध यानी शिकारी, उस जगलमें पहुचा । उसे लगा कि कोई हिरन पेडके सहारे बैठा है । शिकारी जो ठहरा ! उसने लक्ष्य साधकर तीर छोडा । तीर भगवान-के पावमें लगकर खूनकी धारा वहने लगी । शिकारी अपना शिकार पकडने-के इरादेसे नजदीक आया । लेकिन सामने प्रत्यक्ष भगवानको जख्मी पाया । उसे वडा दु ख हुआ । अपने हाथोसे वडा पाप हुआ, ऐसा सोचकर वह दु खी हुआ । भगवान् श्रीकृष्ण तो थोडे ही समयमे चल वसे । लेकिन मरनेके पहले उन्होने उस व्याधसे कहा, "हे व्याध ! डरना नही । मृत्युके लिए कुछ-न-कुछ निमित्त लगता ही है । तू निमित्त वन गया ।" ऐसा कहकर भगवान्‌ने उसे आशीर्वाद दिया ।

इसी तरहकी घटना पाच हजार वर्षोंके वाद फिरसे घटी है । यों देखनेमे तो ऐसा दिखाई देगा कि उस व्याधने अज्ञानवश तीर मारा था । यहा इस नौजवानने सोच-समझकर, गाधीजीको ठीक पहचानकर, पिस्तौल चलाई । इसी कामके लिए वह दिल्ली गया था । वह दिल्लीका रहनेवाला नही था । गाधीजीके प्रार्थनाके लिए जाते हुए वह उनके पास पहुचा और

बिलकुल नजदीक जाकर उसने गोलिया छोडी । ऊपरसे तो दिखाई देगा कि गाधीजीको वह जानता था । लेकिन वास्तवमे ऐसा नही था । जैसा वह व्याध अज्ञानी, वैसा ही वह युवक भी अज्ञानी था । उसकी यह भावना थी कि गाधीजी हिदूधर्मको हानि पहुचा रहे है और इसलिए उसने उनपर गोलिया छोडी । लेकिन दुनियामे आज हिदूधर्मका नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गाधीजीने ही रखा है । परसो उन्होने स्वय ही कहा था कि "हिदूधर्मकी रक्षा करनेके लिए किसी मनुष्यको नियुक्त करनेकी जरूरत यदि भगवानको महसूस हुई तो इस कामके लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा ।" इतना आत्मविश्वास उनमे था । उन्हे जो सत्य मालूम होता था वह वे साफ-सीधे कह देते थे । बडे लोग अपनी रक्षाके लिए 'बाडी गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते है । गाधीजीने ऐसे देह-रक्षक कभी नही रखे । देहको वे तुच्छ समझते थे । मृत्युके पहले ही वे मरकर रहे थे । निर्भयता उनका व्रत था । जहा किसी फौजको भी जानेकी हिम्मत न हो वहा अकेले जानेकी उनकी तैयारी थी ।

जो सत्य है, लोगोके हितका है, वही कहना चाहिए, भले ही किसीको अच्छा लगे, बुरा लगे, या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी । वे कहते थे—"मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नही है, क्योकि हम सब ईश्वरके ही हाथमे है । हमसे जबतक वह सेवा लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उठा लेना चाहेगा उस क्षण उठा लेगा । इसलिए जो सत्य लगता है, वही कहना हमारा धर्म है । ऐसे समय यदि मै शायद अकेला भी पड जाऊ और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है, वही मुझे कहना चाहिए ।" उनकी इस तरहकी निर्भीकतापूर्ण वृत्ति रही । और उनकी मृत्यु भी किस अवस्थामे हुई ! वे प्रार्थनाकी तैयारीमे थे । यानी उस समय उनके चित्तमे भगवानके सिवा दूसरा विचार नही था । उनका सारा जीवन ही आपने सेवामय तथा परोपकारमय देखा है, परतु फिर भी प्रार्थनाकी भावना और प्रार्थनाका समय विशेष पवित्र कहना चाहिए । राजनैतिक आदि अनेक महत्त्वके कामोमे वे रहते थे, लेकिन उनकी प्रार्थनाका समय कभी नही टला । ऐसे प्रार्थनाके समय ही देहमेसे मुक्त होनेके लिए मानो भगवानने आदमी भेजा । अपना

काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषयका उनके दिलका ग्रानद और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगारके प्रति दयाभाव, इस तरहका दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्युके समय था, ऐसा सरदारजीको दिखाई दिया ।

गाधीजीने उपवास छोडा उस समय देशमे शाति रखनेका जिन्होने वचन दिया उनमे काग्रेस, मुसलमान, सिख, हिंदूमहासभा, राष्ट्रीय स्वय-सेवक-दल ग्रादि सब थे । हम प्रेमके साथ रहेगे, ऐसा उन्होने वचन दिया और लोग उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभामे गाधीजीको लक्ष्य करके किसीने बम फेका । वह उन्हे लगा नही । उस दिन प्रार्थनामे गाधीजीने कहा, "मै देशकी और धर्मकी सेवा भगवानकी प्रेरणासे करता । जिस दिन मैं चला जाऊ, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा । इसलिए मृत्युके विषयमे मुझे कुछ भी विशेष नही मालूम होता है ।" दूसरा प्रयोग कल हुग्रा । भगवान्ने गाधीजीको मुक्त किया ।

हम सब देह छोडकर जानेवाले है । इसलिए मृत्युके विषयमे तनिक भी दुख माननेका कारण नही है । माताकी ग्रपने दो-चार बच्चोके विषय मे जो वृत्ति रहती है वह दुनियाके सब लोगोके विषयमे गाधीजीकी थी । हिंदू, हरिजन, मुसलमान, ईसाई और जिन राज्यकर्ताग्रोसे लडे वे ग्रग्रेज, इन सबके प्रति उनके दिलमे प्रेम था । सज्जनोपर जिस तरह प्रेम करते है वैसे दुर्जनोपर भी करो, शत्रुको प्रेमसे जीतो, ऐसा मत्र उन्होने दिया । उन्होने ही हमें सत्याग्रह सिखाया । खुद ग्रापत्तिया झेलकर सामनेवालो-को जरा भी खतरा न पहुचे, यह शिक्षा उन्होने हमे दी । ऐसा पुरुष देह छोडकर जाता है तब वह रोनेका प्रसग नही होता । मा हमे छोडकर जाती है उस समय जैसा लगता है वैसा गाधीजीके मरनेसे लगेगा जरूर, लेकिन उससे हममे उदासी नहीं ग्रानी चाहिए ।

एकनाथ महाराजने भागवतमें कहा है, "मरनेवाले गुरूका और रोने-वाले चेलेका—दोनोका बोध व्यर्थ गया ।" एक मृत्युसे डरनेवाला गुरू मृत्युके समय कहने लगा, "ग्ररे, मै मरता हू ।" तब उसके शिष्य भी रोने लगे । इस तरह गुरू मरनेवाला और चेला रोनेवाला दोनोने ही जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था वह फिजूल गया, ऐसा एकनाथ महाराजने कहा है ।

गाधीजी मृत्युसे डरनेवाले गुरू नही थे । जिस सेवामें निष्काम भावनासे देह लगाई जाय वह सेवा ही भगवान्‌की सेवा है । वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जानेके लिए तैयार रहे, ऐसी सिखावन उन्होने हमें दी । तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई । इसलिए यह उत्तम अत हुआ, ऐसा हम पहचान ले और काम करने लग जाय ।

कुछ दिन पहले ही आश्रमके कुछ भाई गाधीजीसे मिलने गये थे । उस समय उनका उपवास जारी था । उपवासमे वे जिंदा रहेगे या मर जायगे, इसका किसको पता था ? आश्रमके भाइयोने उनसे पूछा—"आप यदि इस उपवासमे चल बसे तो हम कौनसा काम करे ?" गाधीजी ने जवाब दिया—"इस तरहका सवाल ही आपके सामने कैसे खडा हुआ ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है । हिंदुस्तानमे खादी करनी है । खादीका शास्त्र बनाना है । इतना बडा काम आपके लिए होते हुए भी 'क्या करे ?' ऐसी चिंता क्यो होती है ?"

इसलिए हमारे लिए उन्होने जो काम रख छोडा, वह हमे पूरा करना चाहिए । असख्य जातिया और जमाते मिलकर हम यहा एक साथ रहते है । चालीस करोडका अपना देश है, यह हमारा बडा भाग्य है, लेकिन एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए रहेंगे, तभी वह होगा । इतना बडा देश होनेका भाग्य शायद ही मिलता है । हमारे देशमें अनेक धर्म है, अनेक पथ है । मै तो, यह हमारा वैभव है, यह समझता हू । लेकिन हम सब प्रेमके साथ रहेगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा । हम प्रेमसे रहे, यही गाधीजीने अपने अतिम उपवाससे हमे सिखलाया है । बच्चे एक-दूसरेके साथ प्रेमसे रहे, इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड देती है, वैसा ही उनका वह उपवास था । सारे मनुष्य एकमे हैं, यह उन्होने हमे सिखाया । हरिजन-सेवा, खादी-सेवा, ग्राम-सेवा, भगियोकी सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वे छोड गये हैं ।

अब इस समय मैं अधिक कहना नही चाहता हू । सबके दिल एक विशेष भावनासे भरे हुए हैं । लेकिन मुझे कहना यह है कि केवल शोक करते न बैठे । हमारे सामने जो काम पडा है उसमे लग जाय । यह जो मैं आपको कह रहा हू वैसा ही आप मुझे भी कहे । इस तरह एक-दूसरेको बोध

देते हुए हम सब गांधीजीके बताये काम करने लग जाय । गीतामें और कुरानमे कहा है कि भक्त और सज्जन एक-दूसरेको बोध देते है और एक-दूसरेपर प्रेम करते हैं । वैसा हम करे । आज तक बच्चोकी तरह हम कभी-कभी झगडते भी थे । हमें वे सम्भाल लेते थे । वैसा सबको सम्भालने-वाला अब नही रहा है । इसलिए एक-दूसरेको बोध देते हुए और एक दूसरेपर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजीकी सिखावन पर चले ।
३१ जनवरी' ४८

: १५ :

सर्वोदय की विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशाके लिए शरमिंदा होना पडेगा । लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमे चिरतन प्रकाश मिल सकता है । उस घटनाने हमें देह और आत्माका पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है । मुझसे बहुत लोगोने पूछा कि गांधीजी ईश्वरके नि सीम उपासक थे तो ईश्वरने उनकी रक्षा क्यो नही की ? ईश्वरने उनकी जो रक्षा की, उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी ? देहासक्तिके कारण हम उसे न पहचानें, यह दूसरी बात है । मुझे यहा कुरानका एक वचन याद आता है, जिसमे कहा गया है कि जो ईश्वरकी राहपर चलते हुए कतल किये जाते हैं, मत समझो कि वे मरे हैं । वे तो जिंदा हैं, यद्यपि तुम देखते नही ।

"सा तकूलु लि मंय् युक्तल
फी सबीलिल्लाहि अम्वात्, बल् अहयाऊं
वलाकिल् ला तश् उरून ।"

ईश्वरकी राहपर चलते हुए मरना भी जिंदगी है और शैतानकी राह पर जिंदा रहना भी मौत है । गांधीजीने ईश्वरकी राहपर, सचाई और भलाईकी राहपर, चलनेकी निरतर कोशिश की, उसीकी हिदायत वह

लोगोको देते रहे, उसीके लिए वह कतल किये गए । धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु !

भलाईकी राहपर चलनेकी शिक्षा अनेक सत्पुरुषोने दी है, लेकिन मानवको अभी पूरा यकीन नही हुआ है कि भलाईसे भला होता ही है । वह अभीतक प्रयोग कर रहा है । देखता है कि क्या बुराई बोनेसे भी भला नही उग सकता ? बबूल बोनेसे आम और आम बोनेसे बबूल उगेगा, ऐसी शका तो उसके मन मे नही आती है । शायद पहलेके जमानेमे यह शका भी उसको रही होगी, लेकिन अब तो भौतिक सृष्टिमें 'यथा बीज तथा फल' वाला न्याय उसको जच गया है, फिर भी नैतिक सृष्टिमे उस न्यायके विषयमे उसे शका है । साधारण तौरपर भलाईसे भला होता है, यह उसने पाया है । लेकिन खालिस भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नही है ।

दूसरे कुछ लोगोको खालिस भलाई मजूर है, लेकिन निजी जीवनमे । व्यक्तिगत जीवनमे शुद्ध नीति बरतनी चाहिए, उससे मोक्ष तक पा सकते है, लेकिन सामाजिक जीवनमे भलाईके साथ बुराईका कुछ मिश्रण किये बिना नही चलेगा, ऐसा उनका खयाल है । सत्य और असत्यके मिश्रणपर दुनिया टिकती है, ऐसा यह विचार है । गाधीजीने इसको कभी नही माना और सत्य, अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धातोका अमल सामाजिक तौरपर हमसे करवाया, जिसके फलस्वरूप एक किस्मका स्वराज्य भी हमने पाया है । जिस योग्यताका हमारा अमल था उस योग्यताका हमारा यह स्वराज्य है । उसके लिए वे सिद्धातत जिम्मेदार नही है, हमारा अमल जिम्मेदार है । एक त्रिकोणमे जो सिद्धात साबित होता है वह सब त्रिकोणोको लागू होता है । व्यक्तिके लिए अगर शुद्धनीति कल्याणकारी है तो समाजके लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए ।

कुछ लोगोका खयाल है कि सत्यकी कसौटीपर अपने उद्देश्योको कस ले तो बस है । फिर साधन कैसे भी हो, चल जायगे । लेकिन गाधीजीने इस विचारका हमेशा विरोध किया है । उन्होने तो यहातक कह दिया था कि मै सत्यके लिए स्वराज्य भी छोडनेको तैयार होऊगा । मतलब उनका यह नही था कि वह स्वराज्य नही चाहते थे, या उसकी कीमत कम समझते थे ।

वह तो साधन-शुद्धिका महत्त्व बताना चाहते थे । स्वराज्यके लिए वह जिंदगी भर लडे । लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनोसे ही मिल सकता है । शुद्ध साधनोसे प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा । साधकको साध्यकी अपेक्षा साधनके बारेमे ही अधिक सोचना चाहिए । साधनकी जहा पराकाष्ठा होती है, वही साध्यका दर्शन होता है । इसलिए साध्य और साधनका भेद भी काल्पनिक है । साधनोसे साध्य हासिल होता है, इतना ही नही, बल्कि उसका रूप भी साधनो पर निर्भर रहता है । वैसे, हरेकको अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है । इसलिए अच्छे मकसदका दावा कोई खास कीमत नही रखता । साध्य-साधनोमें विसगति नही होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नही है, लेकिन उसका प्रयोग जिस बडे पैमानेपर गाधीजीने हिंदुस्तानमे किया, वह बेमिसाल है ।

दूसरे कुछ लोग कहते है कि सचाई और भलाईका आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालतमें क्रियाशील रहनेका महत्त्व अधिक है । अगर भलाई रखनेके प्रयत्नमें क्रियाशीलतामें बाधा आती है तो भलाईका आग्रह कुछ ढीला करके, या उस आदर्शसे कुछ नीचे उतरकर, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नही बनाना चाहिए । मैं मानता हू कि यह भी एक मोह है । जेलमे जब लोगोको अधिक दिन तक रहना पडता था, तो उसको 'जेलमें सडना' नाम दिया जाता था । तब गाधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुषकी निष्क्रियतामे भी महान् शक्ति होती है । गीताने अपनी अनुपम भाषामें इसीको अकर्ममें कर्म कहा है । क्रियाशीलता नि सशय महान् है । लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढकर है । विशेष परिस्थितिमें निष्क्रिय भी रह सकते है, लेकिन सचाईको कभी छोड नही सकते ।

कुछ लोग जो अपनेको व्यवहारवादी कहते हैं, सचाई पसद करते है, लेकिन एकपक्षी सचाईमे खतरा देखते है । कहते है कि सामनेवाला अगर असत्यका उपयोग करता है, हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा । ये लोग वास्तवमे सचाई-का मूल्य ही नही जानते । अगर जानते होते तो ऐसी दलील नही करते । हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते है तो हम ही क्यो खाय, ऐसी दलील वे नही करते

है। जानते हैं कि जो खायगा, वह ताकत पायगा। इसका प्रतिपक्षीसे कोई संबंध नही है। एकपक्षी खाना तो मंजूर है, लेकिन एकपक्षी सचाई, प्रीति, मंजूर नही है। इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे, इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमे नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्टचक्र तैयार होता है। दुर्जनताका एक सिलसिला जारी है। उसको तोडना है तो हिम्मत करनी चाहिए और निष्ठापूर्वक, परिणामका हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य, प्रेम और सज्जनता ही भावरूप चीजे है। असत्यादि अभावरूप हैं। प्रकाश और अंधकारका यह झगड़ा है, उसमें प्रकाशको डर कैसा?

यह है सत्याग्रहकी विचार-सरणी, जैसा कि मैं समझता हूं। इसीमे सबका भला है, इसलिए इसको सर्वोदयकी विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजीकी हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाईमे हमारी परम-निष्ठा है, उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवनमे करनेकी वृत्ति हम रखते है, तभी इस चुनौतीको हम स्वीकार कर सकते हैं, नही तो हम उस चुनौतीको स्वीकार नही कर सकते। इतना ही नही, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारीके पक्षमें ही दाखिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूं कि गांधीजीकी देहमुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदयकी तैयारीके अधिकारी बनेंगे।

३० जनवरी' १९४९

: १६ :

सेवा व्यक्तिकी, भक्ति समाजकी

बीस बरससे मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवाकी ही थी। यों

कह सकते है कि जीवनमे मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है, न करनेकी इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगोने की है वैसी मैंने नही की। सवेरे एक भाईने मुझसे पूछा, "आप काग्रेसमें नही जायगे क्या ?" मैंने कहा, "मै तो काग्रेसमें कभी नही गया।" सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति काग्रेसमे जाना और वहा बहस करना नही रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हू सही, पर यह मेरे लिए नही है। मै काग्रेसकी प्रवृत्तियोंसे अनभिज्ञ नही हू। विचार करनेवाले भाई तो बहुत है। मै तो उन लोगोंमें हू जो मूकसेवा करना चाहते है। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नही हो सकी जितनी कि मै चाहता हू। सेवाका मेरा उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हू और वीस सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हू। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करनेकी सभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्तिकी, भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्तिमें आसक्ति बढती है, इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नही कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नही कर सकते। माताकी सेवा करनेवाला लडका दुनियाभरकी सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तुकी नही। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मातक पहुचे। आजकल सेवाकी कुछ अनोखी-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाके लिए हम विशालक्षेत्र चाहते है। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपनको सेवामे खपा देना है, तो किसी देहातमें चले जाइए। मुझसे एक भाईने कहा, "बुद्धिशाली लोगोंसे आप कहते है कि देहातमे चले जाइए। विशाल बुद्धिके विस्तारके लिए उतना लबा-चौडा क्षेत्र वहा कहा है ?" मैंने कहा, "ऊचाई तो है, अनत आकाश तो है ? वह लबा सफर नही कर सकता। पर ऊचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है ?" सत इतने ऊचे चढते थे कि उसका कोई हिसाब नही मिलता। कोई बडे-से-बडे विज्ञानवेत्ता भी आकाशकी ऊचाई मालूम नही कर सकता। देहातमे हम लबा-चौडा नही, पर ऊचा सफर कर सकते है। वहा ऊचे-से-

ऊचे चढनेका अवसर है। ऊची या गहरी सेवा वहा खूव हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमे आ जाते है। जितना समाजशास्त्र राष्ट्रमे है, उतना एक कुटुवमे भी आ सकता है, देहातमे तो है ही। समाजशास्त्रके अध्ययनके लिए गावमे काफी गुंजाइश है। मै तो इस विश्वासको वुद्धिका अभाव ही मानूगा कि प्रौढ विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाहसे विगड गया था। प्रौढ-विवाहमे भी अक्सर वैवाहिक आनद देखनेमे नही आता और वाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये है जिनमे पति-पत्नी सुख-शातिसे रहते हैं। विवाह-सस्थामें सयमकी पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सव कुछ कर लिया। विवाहका उद्देश्य ही यह हैं। इसी प्रकारहिंदुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमे पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो वहुत वडा काम कर दिया। वहाके अर्थशास्त्रको कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोके बीचमे रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायगे। हा, वहा जाकर हमें उनके साथ दरिद्रनारायण बनना है, पर 'वेवकूफनारायण' नही। अपनी बुद्धिका उनके लिए उपयोग करना है, निरहकार वनना है। हम यह न समझे कि वे सव निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारतके देहातोका अनुभव और देशोकी तरह चद सदियोका नही, कम-से-कम बीस हजार वर्षका है। वहा जो अनुभव है, उससे हमे लाभ उठाना है। ज्ञानभडारकी तरह द्रव्य-भडार भी वहीसे पैदा करना है और पूरी तरहसे निरहकार वनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते है कि ये सुधारक तो गावको विगाड रहे है, सवर्णोके साथ हमारा उतना सबध नही जितना कि हरिजनोके साथ है। सवर्णोको अपनी प्रवृत्तिकी ओर खीचने और उनकी शका दूर करनेके विषयमे सोचा क्या गया है ?

अस्पृश्यता-निवारणका काम हमें दो प्रकारसे करना है। एक तो हरिजनोकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमे सुधार करके और दूसरे

हिंदू-धर्मकी शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूपमे लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन है, यह हम न माने। वे अज्ञानमे है, ऐसा मान सकते है। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नही है, यह तो उनके विचारोकी सकीर्णता है। प्लेटोने कहा था, "सिवा ग्रीक लोगोके मेरे ग्रथोका अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्यकी आत्माव्यापक है, पर व्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमे उनका विरोध नही करना चाहिए। हम तो वहा बैठकर चुपचाप सेवा करे। हरिजनोके साथ-साथ जहा जब अवसर मिले, सवर्णोकी भी सेवा करे। एक भाई हरिजनोका स्पर्श नही करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जाय, उसकी दयालुताका लाभ उठाये। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करे। थोडे दिनमे उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अतरका अधकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वत पहुच जायगा। हमारे प्रकाशमे हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अधकारकी लडाई तो एक क्षणमे ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो, प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मै दरवाजा ढकेलकर अदर नही चला जाऊगा। मै तो सूर्यकी किरणोका अनुकरण करूगा। दीवारमे, छप्परमें या किवाडमे कही जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अदर चली जाती है। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममे जो विचार है, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफाका एक लाख वर्षका भी अधकार एक क्षणमे ही प्रकाशसे दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोको गालिया देना तो अहिंसाका तरीका नही है। हमें मुहसे खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लडाई आजकी नही, बहुत पुरानी है। सतोका जीवन अपने विरोधियोके साथ झगडनेमे ही बीता। पर उनके झगडनेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवान्ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रति-पक्षियोको भी दी है। आजसे पद्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हीकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे सतोने तो आत्मविश्वासके

साथ काम किया है। वाद-विवादमे पडना हमारा काम नही। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जाय। हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष साधन है। दूसरोके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह हमे छोड देना चाहिए। मा अपने बच्चेके दोष थोडे ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है, उसके बाद फिर कही दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है।

× × ×

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमे जाते है तब हमे यह नही सूझता कि कार्यका आरभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरोमे रहनेके आदी हो गये है। देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूजी—होती है। अब सवाल यह खडा हो जाता है कि इतनी थोडी पूजीसे व्यापार किस तरह शुरू करे। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमे जाकर व्यक्तियोकी सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाजकी तरफ। सारे समाजके समीप पहुचना सभव ही नही है। रणभूमिमे लडनेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछे कि किसके साथ लडना है तो वह कहेगा, "शत्रुके साथ।" लेकिन लडते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्तिपर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमे भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परतु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते है। डाक्टरके पास जितने रोगी जाते है, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरेक रोगीका वह खयाल नही रखता। प्रोफेसर सारे क्लासको पढाता है, पर हरेक विद्यार्थीका वह ध्यान नही रखता। ऐसी सेवासे बहुत लाभ नही हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियोके व्यक्तिगत सपर्कमे आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोपर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हा, इतना खयाल हमे जरूर रखना होगा कि व्यक्तियोकी सेवा करनेमे अन्य व्यक्तियोकी हिंसा, नाश वा हानि न हो। देहातमे जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियोकी ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवनमें प्रवेश करनेका यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मै यह अनुभव कर रहा हू कि जिन्होने मेरी व्यक्तिगत सेवाकी है, उन्होने मेरे जीवन-

पर अधिक प्रभाव डाला है । बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं, लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है । और मैं मानता हू कि उससे मेरे जीवनमे बहुत परिवर्तन हुआ है । यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव । व्यक्तियोकी सेवामे समाज-सेवाका निषेध नही है । समाज गीताकी भाषामे अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार, अत व्यक्तिकी सेवा करना आसान है ।

: १७ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

हमे देहातियोके सामने ग्रामसेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्मकी । उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बाते करनेसे लाभ न होगा । ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नही । इसलिए हमे उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नही । ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है, राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है । बच्चेके लिए त्याग करना माको सिखाना नही पडता । आपसके झगडे मिटाना, गावकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना, आयात-निर्यातकी वस्तुओ और ग्रामके पुराने उद्योगोकी जाच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गावके जीवन-व्यवहारसे सबध रखनेवाली हरेक बात ग्राम-धर्ममे आ जाती है । पुरानी पचायत-पद्धति नष्ट हो जानेसे देहातकी बडी हानि हुई है । झगडे निबटानेमे पचायतका बहुत उपयोग होता था । असेबलीके चुनावसे हमे यह अनुभव हुआ है कि देहातियोको राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है । सरदार वल्लभभाई और पडित मालवीयजीके बीच मतभेद हो गया, अब इसमे बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे । उसके मनमे दोनो ही नेता समानरूपसे पूज्य हैं । वह किसे माने और किसे छोडे ? इसलिए ग्राम-सेवामे हमे ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए । वैदिक ऋषियोकी भाति हमारी भी प्रार्थना यही

होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन अनातुरम्"—हमारे ग्राममें बीमारी न हो।

अगली बात जो मै कहना चाहता हू वह है सेवकके रहन-सहनके संबधकी। सेवककी आवश्यकताए देहातियोसे कुछ अधिक होनेपर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताए विजातीय नही, सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उसका काम नही चल सकता, और देहातियोको तो घी-दूध आजकल नसीब नही होता, तो भी देहातमे रहकर वह दूध ले सकता है, क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है। किंतु सुगधित साबुन देहातमे पैदा होनेवाली चीज नही है। इसलिए साबुनको विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उसका उपयोग नही करना चाहिए। कपडे साफ रखनेकी बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपडे मैले रखते है, लकिन सेवकको तो उन्हे कपडे साफ रखनेके लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहरसे साबुन मगाना और उसका प्रचार करना मै ठीक नही समझता। देहातमे कपडे साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध है या हो सकते है, उन्हीका उपयोग करके कपडे साफ रखना और लोगोको उसके विषयमे समझना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोसे ही जीवनकी आवश्यकताओकी पूर्त्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमे भी सेवकको विवेक और सयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। अखबारका शौक देहातमे पूरा न हो सकेगा।

खादी-प्रचारके कार्यमे अभीतक चरखेका ही उपयोग हुआ है। एक लाखके इनामवाले चरखेकी अभी खोज हो रही है। मै उसे एक लाखका चरखा कहता हू। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाखका चरखा है और वह है तकली। मै सचमुच ही उसे सवा लाखका चरखा मानता हू। खादी-उत्पत्तिके लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलबनके लिए तकली ही उपयुक्त है। नदीका पाट चाहे कितना ही बडा क्यो न हो, वह वर्षाका काम नही दे सकता। नदीका उपयोग तो नदीके तटपर रहनेवाले ही कर सकते है, पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षाके समान है। जहा

कही वह चलेगी वहा वस्त्र-स्वावलवनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे विहारके एक भाई कहते थे कि वहा मजदूरीके लिए भी तकलीका उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालोको वहा हफ्तेमे तीन-चार पैसे मिल जाते है, लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तोन या चार गुनीतक वढ सकती है। गति वढानेसे मजदूरी भी तीन या चार पाच गुनातक मिल सकेगी। यह कोई मामूली वात नही है। हमारे देशमे एक व्यक्तिको १४-१५ गज कपडा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एकसौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घटेमे हो सकता है। चरखा विगडता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा आपकी सेवामे हाजिर रहती है। इसीलिए मै उसे सवा लाखका चरखा मानता हू।

देहातमे सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते है कि कई दिनतक यह काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नही देते। यह शिकायत ठीक नही। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम वह काम करेगे तो अकेले रह जानेपर भी हमे उसका दु ख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न ? यह मेरा काम है। दूसरे करे या न करे, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारभ करेगा उसको सिहावलोकन करनेकी यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददके लिए कोई और है या नही, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-सवधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियोकी अपेक्षा समाजकी ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परतु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नही समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। उसमें सेवकका स्वार्थ भी है, क्योकि मार्गकी गदगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पडता है।

औषधि-वितरणमे एक वातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्यसे देहातियोको पगु तो नही वना रहे है। उसको तो स्वावलवी वनाना है। उनको स्वाभाविक तथा सयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगकी दवाइया देनेकी अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पावे। यह काम देहातयोको अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखानेसे ही हो सकता है।

: १८ :

ग्राम-लक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बडा है। इसमें सात लाख देहात हैं। हमारे देशमें शहर बहुत थोडे है। अगर औसत निकाला जाय तो दसमें एक आदमी शहरमें रहता है और नौ देहातमे रहते हैं। पैंतीस करोड लोगोमेंसे ज्यादा-से-ज्यादा चार करोड शहरोमें रहते है। इकतीस करोड देहातमें रहते है। लेकिन इन इकतीस करोडका ध्यान शहरोकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नही था। देहात मुहताज होकर शहरोका मुह नहीं ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर होगये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था—पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पडता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते हैं। आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओको—एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका—किसानको पूजना पडता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नही आयगे। गाधी कहते है, ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रखो और इस दूसरे देवताको छोडो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी, याने शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुम लोगोको बतलाता हू। हमारे गावकी सारी लक्ष्मी यहासे उठकर शहरोमे चली जाती है। अपने पीहरसे चल बसती है। इस ग्राम-लक्ष्मीके पैर गावमें नही ठहरते। वह शहरकी तरफ दौडती है। पहाड-पर पानी भरपूर बरसता है, लेकिन वह वहा कब ठहरता है। वह चारो तरफ भाग निकलता है। पहाड बेचारा कोरा-का-कोरा नग-धडग, गंजा-बूचा, खडा-का-खडा, रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारो दिशाओमें भाग खडी होती है। शहरोकी तरफ बेतहाशा दौडती है। अगर हम उसे रोक सके तो हमारे गाव सुखी होगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तोसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोको वद कर दो। तब वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता वाजार है, दूसरा शादी-व्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाचवा व्यसन। इन पाचो रास्तोको वद करना शुरू करे।

सबसे पहले व्याह-शादीकी बात लीजिए। तुम लोग व्याह-शादीमे कोई कम पैसा खर्च नही करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लडकी बडी हो जाती है, अपने ससुरालमे जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे उसके मा-बाप मुक्त नही होते। यह रास्ता कैसे मूदा जाय, सो बताता हू। तुम कहोगे, 'खर्चमे कतर व्योत करो। भोज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है ?'—वगैरा-वगैरा। यह ठीक नही। समारोह खूब करो। ठाठवाठमें कमी नही होनी चाहिए। लेकिन मै अपनी पद्धतिसे कम खर्चमें पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हे देता हू।

लडके-लडकीकी शादी मा-बाप ठीक करे। लेकिन वहा उनका काम खत्म हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना, यह सारा काम गावका होगा। मा-बाप शादीमे एक पाई भी खर्च नही करेगे। जो करेगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गाववालोको बना लेना चाहिए।

लडके जितने अपने मा-बापके है, उतने ही समाजके भी है। मा-बापके मर जानेपर क्या वे घूरपर फेक दिये जाते है ? गाव उन्हे सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेपर जाकर देखिए। प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नही, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगडे कम होगे। सहयोग और आत्मीयता बढेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुवाईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो, कपास यहा पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपडा खरीद लाते हो। गन्ना यहा पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गावमे मूगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहासे अनाज भेजकर रोटिया बबईसे मगाओ। तुम्हे तो बैल भी बाहरसे

लाने पडते है । इस तरह सारी चीज वाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे ।

वाजारमे क्यो जाना पडता है ? जिन चीजोकी जरूरत होती है, उन्हे भरसक गावमे ही वनानेका निश्चय करो । स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य, अपने गावका राज्य । घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गावमे क्या-क्या वना सकते हो । देखो, तुम्हे कौन-कौन-सी चीजें चाहिए । तुम्हारी खेतीके लिए वढिया वैल चाहिए । उन्हे मोल कहातक लोगे ? तुम्हे वढिया वैल यही गावमे पैदा करने चाहिए । गायोका अच्छी तरह पालन करो । एक-दो वढिया साड उनमे रखो । वाकीके सवको वधिया करो । इससे गायोकी नस्ल सुधरेगी । अच्छे वैल मिलेगे । वैलोके लिए वागडोर, नथनी वगैरा चाहिए । गावके सन, पटुआ वगैरासे यही वना लो । तुम्हे कपडेकी जरूरत है, उसे भी यही वनाना चाहिए । गावमे वुनकर न हो तो दो लडकोको सिखा लाओ । हरेकको अपने घरमे कातना चाहिए । उतना समय जरूर मिल जायगा । मूगफली गावमे ही होती है । यही घानी शुरू करो, तो यही ताजा तेल मिलगा । गन्ना गावमे होता है । उसका गुड वनाओ । शक्करकी विल्कुल जरूरत नही है । गुड गरम होता है, लेकिन पानीमे मिलानेसे ठडा हो जाता है । गुडमे स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य है । गुड वनाओ । खोई जलानेके काम आयगी । गावके चमारसे ही जूते वनवाओ । इस तरह गावमे ही सारी चीजे वननी चाहिए । पुराने जमानेमे हमारे गाव ऐसे स्वावलवी थे । उन्हे सच्चा स्वराज्य प्राप्त था ।

गावका ही अनाज, गावका ही कपडा, गावका ही गुड, गावका ही तेल, गावकेही जूते, गावके ही ढोर, गावके ही वैल, गावका ही घरका पिसा आटा—इस रवैयेको अपनाओ । फिर देखो, तुम्हारे गाव कैसे लहलहाते है ? तुम कहोगे—यह महगा पडेगा । यह केवल कल्पना है । मै एक उदाहरणसे समझाता हू । मान लो, तुम्हारे गावमे एक रगरेज है, एक वुनकर है, एक तेली है, एक चमार है । आज चमार क्या करता है ? वह कहता है, "मै तेलीसे तेल नही लूगा । वह महगा पडता है ।" तेली क्या कहता है ? "गावके चमारका वनाया हुआ जूता महगा है । मै शहरमे जूता खरीदूगा ।" वुनकर कहता है—"मै गावका सूत नही लूगा । पुतलीघरका अच्छा होता है ।" किसान

कहता है—"मै बुनकरका कपडा नही लूगा । मिलका लूगा । वह सस्ता होता है ।" इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धधा शुरू किया है । एकदूसरेको निबाह लेना धर्म है । उसे छोडकर हम एक-दूसरेको मटियामेट कर रहे है ।

लेकिन जरा मजा देखिए । तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महगा जूता खरीदता है । उसके जेबसे आज चार आने गये । आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महगा तेल खरीदता है । याने उसके चार आने लौट आते है । अर्थात् वह महगा नही पडता । जहा पारस्परिक व्यवहार होता है वहा 'महगा' जैसा कोई शब्द ही नही है । गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते है । मै उसकी महगी चीज खरीदता हू, वह मेरी महगी चीज खरीदता है । हिसाब बराबर । इसमे क्या बिगडता है ? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली । तेलीके लिए खादी महंगी है, जुलाहेके लिए तेल महगा है । बात एक ही है । तेलमे जो पैसे गये, वे खादीमे वापस मिले और खादीमे गये सो तेलमे मिल गये । 'इस हाथ देना उस हाथ लेना', इस तरहका भाईचाराका, सहयोगका व्यवहार पहले होता था, लेकिन वह आज लोप हो गया है ।

देहातमें प्रेम होता है; भाईचारा होता है । देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोका खयाल नही करेगे तो वह देहात ही नही है । वह तो शहरके-जैसा हो जायगा । शहरमे कोई किसीको नही पूछता । सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहा इकट्ठे होते है, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकडो कीडे जमा होते हैं । उस सडनेवाले गोबरमे सैकडो कीडे कुलबुलाते है । वे कीडे वहा क्यो इकट्ठे हुए ? किसी कीडेसे पूछा, "यहा क्यो आया ? तेरे कोई भाई-बहन यहा है ?" वह कीडा कहेगा, "मै गोबर खानेके लिए यहा आया हू और गोबर खानेमें चूर हू । मुझे ज्यादा बोलनेकी फुरसत नही है ।" कलाकद, गुड आदिपर मक्खिया बैठती है, सो क्या प्रेमके कारण ? उसी तरह शहरोमे मक्खियोके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते है, चींटियोकी नाईं जिनका ताता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए ? शहरमे स्वार्थ और लोभ है । गाव प्रेमसे बनता है । गावमें आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोडकर दौड आयगे । घरमें कोई बैठा थोडे ही रहेगा ? लेकिन

बबईमे क्या दशा होगी ? सब कोई कहेगे, "पानीका बंबा जायगा, मुझे अपना काम है।" इसीलिए एक कविने कहा है—"गावोको ईश्वर बनाता है और शहरोको मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गावोमे रहते थे । आज तो हरकोई शहरमे जाता है। वहा क्या धरा है ? पीले पत्थर है और धूल है । यथार्थ लक्ष्मी देहातमे है। पेडोमे फल लगते है । खेतोमे गेहू होता है, गन्ना होता है । यही सच्ची लक्ष्मी है । यह सच्ची लक्ष्मी वेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो । तुम शहर जाकर वहासे सस्ती चीजे लाते हो । लेकिन सभी ऐसा करने लगे, तो देहात वीरान दिखाई देगे । अगर देहातोको सुखी देखना है, तो शहरके बाजारको छोडो । गावकी चीजे खरीदो । जो चीज गावमे वन ही न सकती हो, वह अलबत्ते बाहरसे लाओ । बाहरसे लानेमे भी, अगर वह दूसरे गावमे होती हो, तो वहासे लाओ । मान लो, यहा चूडिया नही होती, तो सोनगीरसे लाओ । यहा अच्छे लोटे नही बनते, तो सोनगीरसे लो । यहा रगरेज न हो, तो मालपुरसे रगाकर मगाओ । मालपुरका रगरेज तुम्हारे यहासे गुड लेकर जायगा, तुम उसके यहासे कपडे रगवाओ । तुम्हारे गावमे जो चीजे न बनती हो, उनके लिए दूसरे गाव खोजो । शहरमे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोको पसद करो । जहातक हो सके, यत्रोसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो ।

तुम्हारी ग्राम-पचायतोको यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिए, गावके झगडे-टटे दूर करनेका काम तो पचायतोका है ही, लेकिन गावसे कौन-कौन सी चीजे बाहर जाती है, कौन-कौन-सी बाहरसे आती है, इसका ध्यान भी पचायतको रखना चाहिए । नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए । बादमे, वे चीजें बाहरसे क्यो आती है, इसकी जाच-पडताल करके उन्हे गावमे ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए । बुनकर नही है ? दूसरे गावको दो लडके सीखनेके लिए भेज देगे । हरेकको यह सकल्प कर लेना चाहिए कि गावकी ही चीज खरीदूगा । जो चीज मेरे गावमें बनती न हो, उसे वही बनवानेकी कोशिश करूगा । गावके नेताओको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए । 'कैसे होगा ? क्या होगा ?'—न कहो । उठो, काम शुरू कर दो ।

चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोके दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितनेमे बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरेकी चीजे खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महगा' ये शब्द ही नही रहेंगे।

बतलाओ, तुम्हारे यहा क्या-क्या नही हो सकता? एक नमक नही हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजारसे। दो, मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेल की जरूरत नही होनी चाहिए। परतु उसके बिना काम ही नही चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहा होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी बद कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नही है। दियासलाई खरीदनी पडेगी। कुछ औजार खरीदने पडेगे। दूसरा कोई चारा नही है। ये चीजें खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले अडी का तेल काममे लाओ।

परतु इसके सिवा बाकी सारी चीजे गावमें ही बनाओ। खादी गावमे बननी चाहिए। खादीके कपडेके लिए सूतके बटन भी यही बन सकते हैं। उन दूसरे बटनोकी क्या जरूरत? अगर छातीपर वे बटन न हो तो क्या प्राण छटपटायगे? ऐसी बात तो नही है। तो फिर उन्हें फेंक दो। इस कठीकी क्या जरूरत है? उसके बिना चल नही सकता? ऐसी अनावश्यक चीजें गावमे लाओगे तो कठिया पैरोकी जजीरकी तरह जकडेगी या फासीकी रस्सीकी तरह गला घोट देंगी। बाहरसे ऐसी कठिया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था? वह क्या बाहरसे कठिया लाता था? वृन्दावनमें मोरोके जो पख गिर जाते थे, उन्हीसे वह अपना शरीर सजाता था। पख उखाडकर नही लाता था। वह मोरके पखसे सजता था। सो क्या सिडी हो गया था? क्या पागल हो गया था? "मेरे गावके मोर हैं, उनके पखोसे मै अपने शरीरको सजाऊ तो कोई हर्ज नही है। उसमे उन मोरोकी पूजा भी है"—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमे क्या पहनता था? वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते हैं। गरीबोको मिलते है, अमीरोको मिलते है। वह स्वदेशी वनमाला, देहातकी वनमाला, गलेमें पहनता था। और

बजाता क्या था ? मुरली । देहातके बासकी बासुरी—वह अलगोजा । यही उसका वाद्य था ।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे । वह वहाका एक प्रसग सुनाते थे । "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे । फ्रासीसी, जर्मन, अग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे । सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये । फ्रासीसियोने वायोलिन बजाया, अग्रेजोने अपना वाद्य बजाया । मुझसे कहा गया, 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ ।' मै चुपचाप बैठा रहा । वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?' मै उन्हे बता नही सका ।"

मैने तुरत अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बासुरी है । लाखो गावोमे वह पाई जाती है । सीधी-सादी और मीठी । कृष्ण भगवान्ने उसे पुनीत किया है । एक बासकी नली ले लो, उसमे छेद बना लिये । बस, वाद्य तैयार हो गया ।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था । वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था । अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहरकी चीनी लाकर खाता था ? वह अपने गोकुलकी मक्खन-मलाई खाता था । दूसरोको खाना सिखाता था । ग्वालिने गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुरा को ले जाती थी । परतु गावकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नही जाने देता था । वह उसे लूटकर सबको बाट देता था । सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये । जिन्होने गोकुलपर चढाई की, उनके दात उसने अपने मित्रोकी मददसे खट्टे किये । गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था । उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातोको जलानेवाले लडाई-झगडोका खातमा किया । सब लडकोको इकट्ठा किया । प्रेम बढाया । इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है । वह तुम्हारे गावका आदर्श है । गोपालकृष्ण ने गावोका वैभव बढाया, गावोकी सेवा की, गावोपर प्रेम किया, गावके पशु-पक्षी, गावकी नदी, गावका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया । गाव ही उसका देवता रहा । आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने । लेकिन फिर भी गोकुलमें आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमें हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बसी बजाते थे, लडकोके साथ,

गोपावालोके साथ, खेलते थे। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होने गोकुलमें असीम आनद और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख असीम था। ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोके लिए देवता तरसते थे। प्रेममस्त गोपालवाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल कलेवा' खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमे वह प्रेम था क्या ? उन देवताओको पैसेकी कमी नही थी। लेकिन उनके पास प्रेम नही था। हमारे शहर आपके स्वर्ग है न ? अरे भाई, वहा प्रेम नही है। वहां भोग है, पैसे है, परतु आनद नही है। अपने गावोको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहरके नगरसेठ तुम्हारे गावकी नमक-रोटीके लिए लालायित होकर दौडते आयेंगे। हमे देहातोको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलबी, आरोग्य-सपन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चू-चर बोल रहा है, कुएपर मोटर चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है, और बशी बजा रहा है—ऐसा गाव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गावोको मरघट बनाया। आइए, अब फिर उसको गोकुल बनायें।

कागज एरडोलका खरीदो। दतमजन राखका बनाओ। ब्रश दतौनके बनाओ। विदेशी कागजकी झंडिया और पताकाएं हमें नही चाहिए। अपने गावके के पेडोके पल्लव—ग्राम-पल्लव—लो। उनके तोरण और वंदनवार बनाओ। गावके पेडोका अपमान क्यो करते हो ? बाहरसे चीजें लाकर वंदनवार लगाओगे तो गावके दरख्त रूठेंगे। वे समारोहमें हाथ बटाना चाहते हैं। उनके कोपल लाओ। हमारे धार्मिक मगल-उत्सवोके लिए क्या कागजके तोरण विहित हैं। आमके शुभ पल्लव चाहिए और घडा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिनपॉटका होगा ? वह पवित्र कलश मिट्टीका ही चाहिए। तुम्हारे गावके कुम्हारका बनाया हुआ चाहिए। देखो, हमारें पूर्वजोने गावकी चीजोकी कैसी महिमा बढाई है। उस दृष्टिको अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। इधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनद दिखाई देने लगेंगे।

कोई दिन भर फू-फू बीडी फूकते रहते है। कहते है, "बीडिया तो घरकी ही है। वे बाहरसे नही आती।" अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या खा लोगे ? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे ? जहर चाहे घरका हो या बाहरका, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे है। उन सबको छोडना चाहिए। वे प्राणघातक है। शराबके बारेमे कहोगे तो पहले महाराष्ट्रमे शराब नही थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमे वह कहता है—"पेशवोके राजमे शराबसे आमदनी नही थी। लेकिन आज तो गाव-गावमे पियक्कड है। सरकार उलटे उन्हे सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीयें ? हिंदुस्तानमे दो मुख्य धर्म है—हिंदू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मोंमें शराब पीना महान पाप माना गया है। इस्लाममें शराब हराम है। हिंदू-धर्ममे शराबकी गिनती पाच महापातकोमे होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते हैं ? प्राणोका, कुटुबका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका—सभी चीजोका नाश होता है।

बीडी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात-बातमे तकरार करना। कृष्णने झगडोके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो और अगर झगडा हो ही जाय, तो गावके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालते तुम्हारे गावोमे ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजें गावकी ही हो, उसी प्रकार न्याय भी गावका ही हो। तुम्हारे खेतोमें सबकुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गावमे न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा ? गावका धान्य, गावका वस्त्र और गावका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी, अदालते किस कामकी ? चीजोके लिए जिस तरह हम परावलबी न होगे, उसी तरह न्याय के लिए भी नही होगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोडा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गावमे ही रहेगा, लेकिन दूर चला जाने पर, न हमे मिलेगा, न तुम्हें मिलेगा, सारा भाडमें जायगा। गावके ही पचोमे परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा अन्य बातोकी ऊहापोह यहा नही करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरेक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास लोढकर बीजके लायक बिनौले सभालकर रख लोगे, घरमे ही कपडा बना लोगे, मूगफली, अलसी घरमे रखकर गावके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमे जाना बद कर दोगे, गावमेही सारे झगडे तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढगसे व्याह-शादिया करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पडेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नही पायगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके विना पूरी तरह हल नही होगा। स्वराज्यमे सबके हिसाब जाचे जायगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर व्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमे भी न मिला होगा, उससे समझौता करेगे। इसी तरहके उपायसे यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तबतक आजके बतलाये उपायोसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परतु कर्ज चुकानेके फेरमे बाल-बच्चोकी उपेक्षा न करो। बच्चोको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लडके सारे समाजके है। मै अपने साहूकारसे कहूगा, "मै अपने बच्चोको थोडा दूध दू? उन्हे दूधकी जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे है, उतने ही साहूकारके भी है। वे सारे देशके है। लडकोको देनेमे तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोको खिलाओ। घरकी जरूरते पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलासके बाद नही। 'कुछ बचा तो ला दूगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाई। गावकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हें बद करनेके उपायोकी दिशा भी बताई। अब पाचवी बात सरकार है। यह सरकार कैसे बद की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांवमे बनाने लगो, तो सरकार अपने आप सीधी हो जायगी। सरकार यहा क्यो रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोके हाथ बिक सकता है, इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर

अगर अपने गाव स्वावलंवी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गावमे ही बनाओ। जो इस गावमें न बन सके, उसे दूसरे गावसे लाओ। शहरके कारखानोका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोको तुम अपने गावसे जो खाद्य पहुचाते हो, उसे बद करो। आपसमें एकता करो। लडना-झगडना छोड दो। अगर लडो भी तो गावमें ही फैसला कर लो। कचहरी-अदालतका मुह न देखनेका सकल्प करो। गावकी ही चीजे, गावका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो 'एक पथ दो काज' होगे। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलंवी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिलमिलकर रहनेवाले बनो। तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नही सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढनेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमें जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुट-पूजिया सत्याग्रह न होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होगे।

तुम लगानके रूपमे दस हजार रुपये देते हो। लेकिन कपडोके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मानलो कि यह सरकार यहासे जल्दी नही टलती। उसका लगान कम नही होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपडा गांवमें ही बनानेका सकल्प कर ले, तो क्या होगा। हरेकको तीन सेर रुईकी जरूरत होगी। हर कुटुबमे अगर पाच आदमी हो, तो पद्रह सेर रुई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोकी जरूरत हो, उतनी बढिया कपास खेतसे बीनकर घरपर ही लोढो। बढिया बिनौले मिलेंगे। जो रुई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपडोके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकी को बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रुईके दाम सवा रुपया होगे। बत्तीससौ आदमियोको चार-पाच हजारकी रुई रखनी होगी। कपडा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पाच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गावमे रहेगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी, लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गाधी कहते है कि खादी ही स्वराज्य है। अकेले खादीकी बदौलत बीस हजार रुपये गावमें रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा?

लगान आधा याने दस हजारका पाच हजार, हो जायगा । याने तुम्हारे पाच हजार रुपये बचेगे । लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेगे । इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है, यह जानो ।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नही हुआ था । इसीलिए हमें रोटियोके लाले नही पडे । परतु, इस राज्यमे यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धधोका स्वराज्य, नष्ट हो गया है । इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे । इग्लैडका मुख्य आधार कर या किसान नही है, बल्कि करोडो रुपयेका व्यापार है । लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेगे । लेकिन तुम्हे कपडा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा । शक्कर, घासलेट वगैरा सैकडो ऐसी ही चीजे है । इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो । हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेगे, सो देखा जायगा । परतु तबतक मेरे बतलाये उपायोसे अपने गाव स्वावलबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ । इसीमे सबकुछ है ।

दिसबर, १९५१

: १९ :

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओमेसे अधिकाश उत्साही नवयुवक है । वे काम शुरू करते है उमग और श्रद्धासे, लेकिन उनका वह उत्साह अततक नही टिकता । देहातमे काम करनेवाले एक भाईका खत मुझे मिला था । लिखा था—"मैं सफाईका काम करता तो हू, लेकिन पहले उसका जो असर गाववालोपर होता था अब नही होता । इतना ही नही, बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको कहीसे तनख्वाह मिलती है, इसीलिए यह सफाई-का काम करता है ।" अतमे उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोडकर दूसरा काम हाथमे ले लिया जाय ?

यो कार्यकर्त्ताओको अपने काममे शकाए उत्पन्न होने लगती है और वह हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओका नही, बडे-बडे विद्वानो और नेताओकी भी यही हालत है । इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है । वह है स्वाध्याय-का अभाव । यहापर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमे मै उपयोग करता हू, उसे बता देना आवश्यक है । स्वाध्यायका अर्थ मै यह नही करता कि एक किताब पढकर फेक दी, फिर दूसरी ली । दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये । इसको मै स्वाध्याय नही कहता । 'स्वाध्याय' के मानी है एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयो और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोका आधार है,लेकिन जो खुद किसी दूसरेपर आश्रित नही । उस विषयमे दिनभरमे थोडे समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है । अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कामोको उतने समयके लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए । अपने स्वार्थके ससारमें जितनी बाधाए और कठिनाइया पैदा होती है वे सभी इस परमार्थी कार्यमे भी खडी हो सकती है और यह भी ससारका एक व्यवसाय बन जाता है । अगर कोई समझता हो कि परमार्थी काम होने की वजहसे स्वार्थी ससारकी झझटसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है । इसलिए जैसे कुछ समयके लिए ससारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कामसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है, क्योकि वास्तवमें यह काम केवल भावनाका नही है, उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है । भावना तो देहातियोमे भी होती है, लेकिन उनमे बुद्धि की न्यूनता है । उसे प्राप्त करना चाहिए । बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हो, सो नही है । इस विषयमे मै एक उदाहरण दिया करता हू ।

सूर्यकी किरणोमे प्रकाश है और उष्णता भी है । उष्णता और प्रकाशको तार्किक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते है । फिर भी जहा प्रकाश होता है वहा उसके साथ उष्णता भी होती ही है । इसी तरह जहा सच्ची बुद्धि है वहा सच्ची भावना है और जहा सच्ची भावना है वहा सच्ची बुद्धि है ही । उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते है, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही है । कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई मतलब नही है, सेवाकी इच्छा है, और इसके लिए भावनाका

होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न? उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमे शहरमे जाकर पुस्तकालयमे जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बाते ग्राम-सेवाके लिए उपयोगी है, इनसे उत्साह बढता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमे काम करनेमे अनुकूलता होती है। लेकिन वे नही जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नही है। शहर ज्ञानियोका अड्डा नही है।

उपनिषद्‌में एक कहानी है। एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमें है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नही मिला। तब राजाने कहा "अरे, ब्राह्मणको जहा खोजना चाहिए वहा जाकर ढूढो।" तब वे लोग जगलमें गए और वहा उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नही कि शहरमे कोई तपस्वी मिल ही नही सकता। सभव है, कभी-कभी शहरमे भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहाका वातावरण उसके अनु-कूल नही। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोमे नही होता। देहातमे निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष सबध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यत आव-श्यक है। शहरमे निसर्गसे भेट कहा? जगलमे तो नदी, पहाड, जमीन सब चीजे वही सामने दिखाई देती है और जगलके पास तो देहात ही होते है, शहर नही। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्रामसेवकोको शहरमें आना पडे, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोके लिए देहातमे जाकर कार्यकर्त्ताओसे मिलते रहे तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से-कम रोज एकाध घटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खीचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहासे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पडती है, लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पडता है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही

पडेगा। लेकिन कार्यको देखनेके लिए खुदको अलग कर लेनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

: २० :

दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न है

(१) हममेंसे जो आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं, परतु अब दरिद्रवर्गसे एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रमसे अपने जीवनमे परिवर्तन करे, जिससे तीन-चार वर्षमे निश्चित रूपमे उन दरिद्रोसे एकरूप हो जाय?

(२) मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते है? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि सघके सदस्य कोई ऐसा उपाय करे जिससे उनके खर्चमेंसे हर पद्रह रुपये मेंसे चार रुपये दरिद्रोके घर सीधे पहुच जाय?

पहले तो हमे यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्च वर्गके माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान बनाना चाहते है। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते है। पानी कहीका भी क्यो न हो, समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नही पहुच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा वहाया हुआ हो, या गगाजीका, दोनोकी गति समुद्रकी ओर है। दोनो निम्नगतिक—नम्र है। एक जगह थोडा पानी है, उसकी ताकत कम होनेके कारण भले ही वीचमें रुक जाय और किसी छोटे वृक्षको जीवन प्रदान करनेमे उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य, परतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुचनेका भाग्य तो

गगाके समान महानदियोको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणिया पहाड और टोलेके समान है। यहा जिनकी हमे सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्रतक सब न भी पहुच सकें, तो भी कामना तो हम यही करते है कि वहातक पहुचे। अर्थात् जहातक पहुच पाये उतने ही से सतोष न मान ले। हमे जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवनकी दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक—नम्र—बनाना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नही बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी ये मेरे पास नही है और न मै चाहता ही हू कि ऐसे नियम बनानेका कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पाच वर्षोमे उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोको गरीब बना देनेकी कोई विधि नही है। हमे गरीबोकी सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नही है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थकी गुजाइश है। पिछले सोलह वर्षोसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मै गरीबोसे एकरूप हो जाऊ, लेकिन मै नही समझता कि गरीबोका जीवन व्यतीत करनेमे सफल हुआ हू। पर इसका उपाय क्या है। मुझे इसका कोई दु ख भी नही है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनदकी अपेक्षा प्रयत्नका आनद बढकर है।

शिवकी उपासना करना हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमे विवेककी जरूरत है। इसके मानी यह नही कि हम उनके जीवनकी बुराइयोको भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण है वैसे मूर्ख-नारायण भी तो है। क्या हम भी उनकी सेवाके लिए मूर्ख बने ? शिव बननेका मतलब यह नही है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसे बनकर हमे अपनी बुद्धि नही खोनी चाहिए।

देहातमें किसान धूपमें काम करते है। लोग कहते है, बेचारे किसानोको दिनभर धूपमे काम करना पडता है।" अरे, धूपमे और खुले आकाशके नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते है ? धूपमें तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हीकी भाति करना शुरु कर दे। पर वे जो रातमे मकानोको

सदूक बनाकर उनमे अपने-आपको वद करके सोते हैं उसकी नकल हमे नही करनी चाहिए। हम काफी कपडे रखे। उनसे भी हम कहें कि रातमे आकाशके नीचे सोओ और नक्षत्रोंका वैभव लूटो। हम उनके प्रकाशका अनुकरण करे, उनके अधकारका नही। उनके पास अगर पूरे कपडे नही हैं तो हम उन्हे इतना समर्थ क्यो न बना दे कि वे भी अपने लिए काफी कपडे बना ले? उन्हे महीनो तरकारी नही मिलती, दूध नही मिलता। क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड दे? यह विचार ठीक नही है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दु ख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जाय? इसमे दया है, सहानभूति भी है। लेकिन यह दया और सहानुभूति किस कामकी जिसमे तारक बुद्धिका अभाव हो? सच्ची कृपामे तारक शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजीने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमें अपने जीवनकी खराबियोको निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयोको दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमे रस या उत्साह है। भोग या विलासिताको उसमें स्थान नही। हम दरिद्रो-जैसे बने या पूर्ण जीवनकी ओर बढे? लोग कहते हैं, ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नही दिखाई देगा। पर हमें इस बातका विचार नही करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम-परायणताको छोड देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है। हमे दूध मिलता है, उन्हें नही मिलता। इस बातका हमे दु ख हो तो वह उचित ही है। यह दु खबीज तो हमारी हृदय-भूमिमे रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दु ख होगा। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे तारक बुद्धिका प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इच भी आगे बढ सके तो हम स्वराज्यके नजदीक पहुचेंगे। जैसे नदिया समुद्रकी ओर बहती हैं उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

: २१ :

त्याग और दान

एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोका उसे मोह है, देहकी ममता है। स्वाभावत ही पैसेपर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च उसके अदर है और उससे 'पूजी' कुछ बढी ही है, उसे खुशी होती है। बडे ठाठसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिए या परोपकारका कहिए, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिए—खर्च किया हुआ धन व्याजसमेत वापस मिल जाता है। इस-लिए इस काममें वह खुले हाथो खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबोको इसका इस तरह बडा सहारा रहता है, जिस तरह छोटे बच्चोको अपनी माका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सतोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआ खुदवाया। कुआ बहुत गहरा था। उसमेंसे थोडी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले। कुआ जितना गहरा गया, इन चीजोका ढेर भी उतना ही ऊचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरीमें पैसेका ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नही पड गया होगा!" विचारका धक्का बिजली जैसा होता है। इतने विचारसे ही वह हडबडाकर सचेत हो गया। वह कुआ तो उसका गुरु बन गया। कुएसे उसे जो कसौटी मिली उसपर उसने अपनी सचाईको घिसकर देखा। वह खरी नही उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा? अतमे पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियोमे उसे कोई फर्क नही दिखाई

दिया। यह सोचकर कि फिजूलका कूडाकचरा भरकर रखनेसे क्या लाभ, वह एक दिन सवेरे उठा और अपनी सारी सपत्ति गधे पर लादकर गंगा-किनारे ले गया। "मा, मेरा पाप धो डाल!" इतना कहकर उसने वह कमाई गगा माताके आचलमे उडेल दी और वेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते है, "दान ही क्यो न कर दिया?" वह जवाव देता है, "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पडता है। अपात्र को दान देनेसे धर्मके वदले अधर्म होनेका डर जो रहता है। मुझे अनायास गगाका 'पात्र' मिल गया, उसमे मैंने दान कर दिया।" इससे भी सक्षेपमे वह इतना ही कहता है, "कूडे-कचरेका भी कही दान किया जाता है?" उसका अतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सपत्ति-त्यागसे उसके सब 'सगो' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमे पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नही। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोने भी दानकी महिमा कलियुगके लिए कही है। 'कलियुग' माने क्या? कलियुग माने दिलकी कमजोरी। दुर्वल हृदय द्रव्यके लोभको पूरी तरह नही छोड सकता। इसलिए उसके मनकी उडान अधिक-से-अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुच नही हो सकती। लोभी मनको तो त्यागका नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारोने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिलकुल जडपर आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोपलें खोटने जैसा है। त्याग पीनेकी दवा है, दान सिरपर लगानेकी सोठ है। त्यागमें अन्यायके प्रति चिढ है, दानमे नामका लिहाज है। त्यागसे पापका मूलधन चुकता है और दानसे पापका व्याज। त्यागका स्वभाव दयालु है, दानका ममतामय। धर्म दोनो ही पूर्ण है। त्यागका निवास धर्मके शिखरपर है, दानका उसकी तलहटी में।

पुराने जमानेमे आदमी और घोडा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीके एक जल्दीका काम आ पडा। उसने थोडी देरके लिए घोडेसे उसकी पीठ किरायेपर मागी। घोडेने भी पडोसीके धर्मको सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा,

"लेकिन तेरी पीठपर मैं यो नही बैठ सकता । तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूगा ।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोडेने भी थोडे समयमें काम बजा दिया । अब करारके मुताबिक घोडेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमीमे लोभ न छूटता था । वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोडी नही जाती, इसलिए इतनी बात तू माफ कर । हा, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूगा । इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूगा, तेरे लिए घुडसाल बनाऊगा, तुझे दाना-घास दूगा, पानी पिलाऊगा, खरहरा करूगा, जो कहेगा वह करूगा, पर छोडनेकी बात मुझसे न कहना ।" घोडा बेचारा कर ही क्या सकता था ? जोरसे हिनहिनाकर उसने फरियाद भगवान्के दरबारमें पेश की । घोडा त्याग चाहता था, आदमी दानकी बाते कर रहा था । भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे !

: २२ :

कृष्ण-भक्तिका रोग

"दुनिया पैदा करे" ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई । इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमे आया कि "अपने काममें भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बडा मजा रहेगा ।" इसलिए आरभमे उन्होने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढा और उसे यह अख्तियार दिया कि आगेसे मैं जो गढूगा उसकी जाचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा । इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया । ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता । टीकाकारकी जाचके सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती । "हाथी ऊपर नही देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है । गदहेमे चपलता नही है, बदर अत्यंत चपल है ।" यो टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोडने शुरू किये । ब्रह्माजीकी अकल गुम होगई । फिर

भी उन्होने एक आखिरी कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढा। टीकाकार उसे बारीकीसे निरखने लगा। अतमे एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमे एक खिडकी होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले—"तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई, अब मै तुझे शकरजीके हवाले करता हू।"

यह एक पुरानी कहानी कही पढी थी। इसके बारेमे शका करनेकी सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानीके वर्णनके अनुसार टीकाकार शकरजीके हवाले हुआ नही दीखता। शायद ब्रह्माजीको उनपर दया आगई हो, या शकरजीने उनपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामीके जमानेमे कर्तृत्व बाकी न रह जानेपर वक्तव्यको मौका मिलता है। कामकी बात खत्म हुई कि बातका ही काम रहता है और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहासे खोजे जाय? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया 'निदा-स्तुति जनकी, वार्ता वधू-धनकी।" पर निदा-स्तुतिमे भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निदा अर्थात् पर-निदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीकाकारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते है, वसे गुण नही दिखाई देते। सस्कृतमे 'विश्वगुणादर्श-चपू' नामका एक काव्य है। वेकटाचारी नामके एक दाक्षिणात्य पडितने लिखा है। उसमे यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नामके दो गधर्व विमानमे बैठकर फिर रहे है, और जो कुछ उनकी नजरोके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते है। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनो अपनी अपनी दृष्टिसे वर्णन करते है। गुणादर्श अर्थात् 'गुणोका दर्पण' इस काव्यका नाम रखकर कविने अपना निर्णायक मत विभावसुके पक्षमे दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका ढग कुछ ऐसा है कि अतमे पाठकके मनपर कृशानुके मतकी छाप पडती है। गुण लेनेके इरादेसे लिखी हुई चीजकी तो यह दशा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चद्रकी भाति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते है । इसलिए दोप ढूढनेवाले मनके यथेच्छ विचरनेमे कोई वाधा पडनेवाली नही है । 'सूर्य दिनमे दिवाली करता है, फिर भी रातको तो अधेरा ही देता है,' इतना ही कह देनेसे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी । उसमे भी अवगुण ही लेनेका नियम वना लिया जाय तो दो दिनोमे एक रात न दिखकर एक दिनकी अलग-अलग दो राते दिखाई देगी । फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएसे अग्निका अनुमान करनवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा । भगवान् ने ये सव मजेकी वाते गीतामे वतलाई है । अग्निका धुआ, सूर्यकी रात अथवा चद्रका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तो' का उन्होने एक स्वतत्र वर्ग रखा है । दिनमे आख वद की तो अधेरा और रातको आखे खोली तो अधेरा—स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगोका कार्यक्रम है । पर भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लिए मोक्ष वतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष । पर इतना होनेपर भी यह सप्रदाय छुतहे रोगकी तरह वढ रहा है । पुतलीके काली होने या काले रगमे आकर्षण अधिक होनेकी वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आखमे भरता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नही भरता । ऐसी स्थितिमें यह साप्रदायिक रोग किस औपधि से अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है ।

पहली दवा है चित्तमें भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को वाहरी कृष्ण न दिखावे, भीतरके कृष्णके दर्शन करावे । लोगोकी कालिख देखनेकी आदी निगाहको मनके भीतरकी कालिख दिखावे । विश्वके गुण-दोपको जाचकर देखनेवाला मनुष्य वहुधा अपने-आपको निर्दोप मान वैठता है । उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसके परीक्षणका डक अपने-आप टूट जाता है । वाइविलके 'नये करार' मे इस वारेमे एक सुदर प्रसगका उल्लेख है—एक वहनसे कोई वुरा काम शायद होगया । उसकी जाच करके न्याय देनेके लिए पच वैठे थे । वहा श्रवण-भक्त भी काफी तादादमे जुट गए होगे, यह कहनेकी आवश्यकता ही नही । किंतु विशेपता यह थी कि उस वहनका सद्भाग्य भगवान ईसाको वहा खीच लाया था । पचोने फैसला सुनाया—"इस वहनने घोर अपराध किया है । सव लोग पत्थरोंसे मारकर उसे शरीरसे मुक्त करे । फैसला सुनते ही लोगोके हाथ फडकने लगे और आसपासके ढेले

थर-थर कापने लगे। भगवान् ईसाको उन ढेलोपर दया आई। उन्होने खडे होकर सबसे एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ हो वह पहला ढेला मारे।' जमात जरा देरके लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहासे एक-एक आदमी खिसकने लगा। अतमे वह अभागी बहन और भगवान् ईसा, ये दो ही रह गए। भगवान्ने उसे थोडा उपदेश देकर प्रेमसे विदा किया। यह कहानी हमे सदा ध्यानमे रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दीखे ही नही, इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दीखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तडफडायेगा। दो-चार दिन नीद भी खराब जायगी, पर आखिरमे थककर मन शात हो जायगा। तानाजीके खेत रहनेपर मावले पीठ दिखा देगे ऐसे रग दिखाई पडने लगे। तब जिस रस्सी की मददसे वे गढपर चढे थे और जिसकी मददसे अब वे उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजीने काट डाली। वह "रस्सी तो मैने कभीकी काट दी है।" सूर्याजीके इस एक वाक्यने लोगोमे निराशाकी वीरश्री पैदा कर दी और गढ सर होगया। रस्सी काट डालनेका तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरे के दोष देखना भल जा, नही तो बैठकर तडफडाता रह'। मनपर यह नौबत आ जाती है और यह हुआ नही कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तडफडाते बैठना सुविधाजनक नही होता।

तीसरी दवा है कर्मयोगमे मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बडे सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है जिसकी सर्वसाधारणके लिए बे-खटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आजका कर्मयोग है।

सूत कातनेका कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक-निंदाको मथते रहनेकी फुर्सत ही नही रहती। जैसे किसान अन्न-अन्नके दानेकी असली कीमत समझता है वैसे ही सूत कातनेवालेको एक-एक क्षणके महत्त्वका पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थकी यह सूचना अथवा "क्षणार्ध

भी व्यर्थ न खो" नारदका यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरश समझमे आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य अद्भुत है। उसपर जितना जोर दिया जाय, कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगोपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाए बताई गई। तीनो दवाए रोगियोकी जीभको कडवी तो लगेगी, पर परिणाममे वे अतिशय मधुर है। आत्म-परीक्षणसे मनका, मौनसे वाणीका और कर्मयोगमे शरीरका दोप झडे बिना आत्माको आरोग्य नही मिलेगा। इसलिए कडवी कहकर दवा छोडी नही जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कडवापन मारा जायगा। सब प्राणियोमे भगवद्भाव होना मधु है। उसमे घोलकर ये तीन मात्राए लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

: २३ :

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममे पहलेकी तरह कवि क्यो नही है? इसके उत्तरमे नीचेके चार शब्द लिखता हू—

आजकल कवि क्यो नही है? कविके लिए आवश्यक गुण नही है, इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोकी आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करे।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नही जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नही समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नही जीता जाता, राग-द्वेष शात नही होते, तबतक मनुष्य इद्रियोका गुलाम ही बना रहता है। इद्रियोके गुलामको ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विपय-सुखमे ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विपय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना

असभव है। सूरदासकी आखे उनकी इच्छाके विरुद्ध विषयोकी ओर दौडा करती थी। उन आखोको फोडकर जब वह अधे हुए तब उन्हे काव्यके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इद्रियोको वशमे कर लिया तब भगवान्‌ने अपने काव्यमय शखसे उसके कपोलको छू दिया और इस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्‌भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इद्रिय और मनको पूर्ण रूपसे भग किया तभी तो महाराष्ट्रको अभग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रयत्नमे जब शरीरपर चीटियोके वमीठे चढ गए तब उसमेसे आदि-काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इद्रियोकी सेवाके हाथ बिक गए है। इसलिए हममे आज कवि नही है।

⁄ समुद्र जैसे सब नदियोको अपने उदरमे स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्माडको अपने प्रेमसे ढक ले, इतनी व्यापक बुद्धि कविमे होनी चाहिए। पत्थरमें ईश्वरके दर्शन करना काव्यका काम है। इसके लिए व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैसेकी आवाजमे भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि है। वर्षा शुरू होते ही मेढकोको टर्राता देख वसिष्ठको जान पडा कि परमात्मा द्वारा कृपाकी वर्षासे कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढकोके रूपमे अपने आनदोद्‌गार प्रकट कर रहे है, और इसपर उन्होने भक्ति-भावसे उन मेढकोकी स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेदमे 'मडक-स्तुति'के नामसे ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्तिका रग चढाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शनसे नाचता है। माताके हृदयमे अपनी सतानके प्रति प्रेम होता है, इसलिए उसे देखकर उसके स्तनोका दूध रोके नही रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणीसे काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नही पाता। हममे ऐसा व्यापक प्रेम नही। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नही। पुत्र-कलत्र-गृहादिसे परे हमारा प्रेम नही गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हा वनचरे सोयरो'—'वृक्ष, लता और वचन हमारे कुटुबी है'—यह काव्य हमे कहासे सूझे।

कविको चाहिए कि वह सारी सृष्टिपर आत्मिक प्रेमकी चादर डाल दे।

वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवमे अपनी आत्माको सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरोमे उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामे वृक्ष, वल्ली, वनचरोका अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है, इतना ही नही, बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमाके चद्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमे ज्वार आना ही चाहिए, किंतु पूर्णिमाके अभावमे उसके हृदयमे भाटा न होना चाहिए। अमावस्याके गाढ अधकारमे आकाश बादलोसे भरा होनेपर भी चद्रदर्शनका आनद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनद बाहरी जगत्मे मर्यादित है वह कवि नही है। कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयभू है। पामर दुनिया विषय-सुखसे झूमती है, कवि आत्मानदमे डोलता है। लोगोको भोजनका आनद मिलता है, कविको आनदका भोजन मिलता है। कवि सयमका सयम है और इसलिए स्वतत्रताकी स्वतत्रता है। टेनिसनने बहते झरनेमे आत्माका अमरत्व देखा, कारण अमरत्वका बहता झरना उसे अपनी आत्मामे दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कविको जाग्रत अवस्थामे महाविष्णुकी योगनिद्राके स्वप्नोका ज्ञान होता है, और स्वप्नमे जाग्रत नारायणकी जगत्-रचना देखनेको मिलती है। कविके हृदयमे सृष्टिका सारा वैभव सचित रहता है। हमारे उदरमे भूखका ज्ञान भरा हुआ है और मुखमे भीखकी भाषा। जहा इतना भान भी अभी स्पष्ट नही हुआ कि मै स्वतत्र हू अथवा मनुष्य हू, वहा आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभाकी आशा नही की जा सकती।

कविमे 'लोक-हृदयको यथावत् सप्रकाशित' करनेका सामर्थ्य होना चाहिए, यह सभी मानते है। पर लोगोको इस बातका भान नही होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार है। सत्यपूत वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। जो "सत्य होगा वही बोलूगा," इस तरहके नैष्ठिक सत्याचरणके फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूतिने ऋषियोके कार्य-कौशलका वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमे उसमे अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियोकी सत्यनिष्ठा। "समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृत वक्तुम्।" जो असत्य

बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है, अत' मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्मे ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठामेंसे काव्यका जन्म होता है। वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी, बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे, अत रामको उनका काव्य सत्य करना ही पडा। और वाल्मीकिके राम थे भी कैसे—"द्वि शर नाभिसधत्ते रामो द्विर्नाभिभापते।" राम न दोबारा बाण छोडते है और न दो बार बोलते है। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके ललाटपर अमरत्वका लेख लिखा गया। सृष्टिके गूढ रहस्य अथवा समाज-हृदयकी सूक्ष्म भावनाए व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वाचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नही है। असत्यको हम खपा लेते है, इतना ही नही, सत्य हमे खटकता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कविका उदय नही होता।

कविकी दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनत कालकी ओर नजर हुए बिना भवितव्यताका परदा नही खुलता। प्रत्यक्षसे अध हुई बुद्धिको सनातन सत्य गोचर नही होते। सुकरातको विषका प्याला पिलानेवाले तर्कने सुकरातको मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगेकी कल्पना उस टुटपुजिये तर्कको न सूझी, लेकिन विषप्राशनके दिन आत्माकी सत्ताके सबध मे प्रवचन करनेवाले सुकरातको परेका भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यताके उदरमें सत्यकी जयको छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजहसे वह वर्तमान युगके विपयमे बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मनमे रमे बिना कवि-हृदयका निर्माण नही हो सकता। ससारके सब रस करुणरसकी गुलामीमे लगे रहनेवाले है, यह बात समाजके चित्तपर अकित कर देनेका भवभूतिने अनेक प्रकारसे प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाजको वह मान्य न हुआ। उसने भवभूतिको ही फेक दिया। पर कविने अपनी भाषा न छोडी। कारण, शाश्वत कालपर उसे भरोसा था। शाश्वत कालपर नजर रखनेकी हमारी हिम्मत नही होती। चारो तरफसे घिरा हुआ हिरन जैसे

हताश होकर आस-पास देखना छोड देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-ग्रस्त बुद्धिसे भावी कालकी ओर देख सकना नही होता। "को जाने कलकी ? आज जो मिले वह भोग लो", इस वृत्तिसे काव्यकी आशा नही हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपरमत्रमे यह अर्थ सुझाया गया है

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू ।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

अर्थ—कवि (१) मनका स्वामी, (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मननके लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हू—

(१) मनका स्वामित्व = ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम = अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता = अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व = सत्य, (५) शाश्वत कालपर दृष्टि = अपरिग्रह।

: २४ :

फायदा क्या है ?

कहते है रेखागणितकी रचना पहले-पहल यूक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमे ग्रीकके सब शिक्षितोके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे—या यो कहिए कि उनके दिमागोमे राजनीतिके पत्थर भरे थे। इस वजहसे रेखागणितके कद्रदा दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतेरे राजनीति-विशारदोको चक्करमे डाल दिया, वैसे ही यूक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञो को रेखाए खीचनेमे लगा दिया था। रोज यूक्लिडके घरपर रेखागणितके शिक्षार्थियोका जमघट लगता और वह उन्हे अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

वहुतेरे राजनीतिज्ञोको यूक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख एक राजाके मनमे आया, "हम भी चल देखे, कुछ फायदा होगा।" उसने हफ्तेभर यूक्लिडके पास रेखागणित सीखा। अतमे उसने यूक्लिडसे पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझमे आया कि इससे फायदा क्या है ?" यूक्लिडने गभीरतापूर्वक अपने एक शिष्यसे कहा, "सुनो जी, इन्हे चार आने रोजके हिसाबसे सात दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिव होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्तेका काम पूरा हो गया, कलसे तुम कही, और काम ढूढो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेपनेके वजाय पौने दो रुपये पल्ले पडनेसे खुश हुआ होगा ? हम लोगोकी मनोवृत्ति उस ग्रीक राजाकी-सी वन गई है।

हर बातमे फायदा देखनेकी बहुतोकी आदत पड गई है। सूत कातनेमे बडा फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके वारे मे खचियो सवाल होते है। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्लको जरा और आगे हाक ले जाय तो तत्त्वज्ञानकी ठेठ चोटीपर पहुच जायगे। तत्त्वज्ञानके शिखरसे ये लोग केवल एक प्रश्नके ही पीछे है और वह प्रश्न है—"फायदेसे भी क्या फायदा है ?" एक लडका अपने वापसे कहता है, "वावूजी, गाय-भैसका फायदा तो समझमे आता है कि उनसे हमे रोज दूध पीनेको मिलता है, लेकिन कहिए तो इन वाघ-वघेरो और सापोके होनेसे क्या फायदा है ?" वाप जवाव देता है, "समूची सृष्टि मनुष्यके फायदेके लिए ही है, इस वेकारकी गलतफहमीमे हम न रहे, यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदासका मनुष्य-स्वभावका ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्यो प्रिय है ? पाठशालाके लडकोको रविवारकी छुट्टी क्यो प्यारी लगती है ? छ दिन दीवारोके घेरेमे घिरे रहनेके बाद रविवारको जरा स्वच्छदताकी सास ले पाते है, इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यो है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दु खोसे दबा हुआ हृदय उत्सवके कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अठारह विस्वे दारिद्रय रहता है, इसीसे लडकेका व्याह रचनेपर हम

जेवनारमे अठारह दूना छत्तीस व्यजन बनाना नही भूलते । साराश यह कि मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवनके दु खमय होनेका सबूत है । वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई, है यह हमारे राष्ट्रके महान् बौद्धिक दिवालियेपनका सबूत है ।

- हमेशा फायदेकी शरण जानेकी वान पड जानेसे हमारे समाजमे साहस-का ही अभाव-सा हो रहा है । इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति लुप्त-सी हो रही है । ब्राह्मणके मानी है साहसकी साक्षात् प्रतिमा । मृत्युके परले पारकी मौज लेनेके निमित्त जीवनकी आहुति देनेवाला ब्राह्मण कहलायेगा । फायदा कहेगा, "मौतके बादकी बात किसने देखी है ? हाथ का घडा पटककर बादलका भरोसा क्यो करे ?" फायदेके कोशमे साहस शब्द मिलना ही सभव नही । और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता'। यदि फायदेके कोशसे जीवन-गीताकी सगति बिठाई जाय तो फल-त्यागकी अपेक्षा त्यागका फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा । ऐसी स्थितिमे सच्ची ब्राह्मणवृत्तिके लिए ठौर ही कहा रहेगा ? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है ।" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्यागके लिए ही त्याग करनेको कहते हो ?" "नही, त्यागके लिए त्याग नही कहता, फायदे के लिए त्याग सही ।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मियाद बताइएगा या नही ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिनमे मिलना चाहिए ?" वह कहेगा—"त्यागके दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है ।" समर्थ गुरु रामदासने लोगोके लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए 'कार्यारभमें देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए, इस कथनका अर्थ फायदेके कोशके अनुसार किया—"कार्यारभी देव, अर्थात् कामके शुरुमे कुछ तो देव (दो) ।" साराश फल ही देव है और वह काम करनेके पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्वज्ञान ! जहा (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहा ब्राह्मणवृत्तिकी बात ही कौन पूछता है ?

परलोकके लिए इस लोकको छोडनेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नही करना है । इससे उतरकर हुई क्षात्रवृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन । इह-लोकमे बाल-बच्चे, अडोसी-पडोसी,

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदेका सूत्र लगाकर देखिए तो इस मिलावटी पागलपनका मतलब समझमे आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यो, अथवा स्वराज्य क्यो? मेरे फायदेके लिए। और जब मै ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका साहस बिदा हुआ।

बाकी रही-वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमे भी कुछ कम साहस नही चाहिए। अग्रेजोने दुनियाभरमे अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मतके नही फैलाया है। इग्लैडमे कपासकी एक डोडी भी नही पैदा होती और आधेसे अधिक हिदुस्तानको कपडा देनेकी करामात कर दिखाई! कैसे? इग्लैडके इतिहासमे समुद्री यात्राओके प्रकरण साहसोसे भरे पडे है। कभी अमेरिकाकी यात्रा तो कभी हिदुस्तानका सफर, कभी रूसकी परिक्रमा तो कभी सु-आशा अतरीपके दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुचे है। यो अनेक सकटभरे साहसोके बाद ही अग्रेजोका व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोकी गुलामीका कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हीकी जड काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा। हममे इस वैश्य-वृत्तिका साहस भी बहुत-कुछ नही दिखाई देता। कारण, फायदा नही दीखता।

जबतक तकलीफ सहनेकी तैयारी नही होती तबतक फायदा दीखनेका ही नही। फायदेकी इमारत नुकसानकी धूपमे बनी है।

: २५ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अत करणकी सूक्ष्म भावनाओकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोने अनेक सुदर कल्पनाओका आविष्कार

किया है 'अनतवैमन । अनता विश्वदेवा'—मनकी अनत वृत्तिया होनेके कारण विश्वमे भी अनन शक्तिया उत्पन्न होती है, इन अनत मानसिक वृत्तियो और सामाजिक शक्तियोका सपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोने धर्मकी रचना की है। स्वय ऋषि ही कहते है—"ऋपि पश्यन् अबोधत'। योगशास्त्रमे योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमे ओतप्रोत शक्तियोके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमे सन्निहित वृत्तियोके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुडी रहे। कालके कराल जवडेमें पिसनेवाले दीनजनोके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुदी हुई। योगी ऋपियोकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अतर्वाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिंदूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओका भडार वन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमे वाणोकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिंदू-धर्म-रूपी महासागरमे छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नही हो सकते। ऋपियोकी इन मनोहर कल्पनाओमे चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुपार्थ वतलाये गये है। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोपर स्थित है। प्रकृति और पुरुप या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे सघर्ष चला आ रहा है। वेदोमे जो वृत्र और इद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इद्र' सज्ञा परोक्ष सकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए खासकर गढी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढाकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियोका अर्थ क्रमश जड, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतना, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनोमे सदा संघर्प होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस सघर्पमें फसा हुआ है। ये दोनो परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें काम करते है, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुपार्थकी

अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनो एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमे है।

मोक्ष कहता है, "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर वैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बडा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वागपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दात प्रेममय है, पर खानेके दात क्रोधसे भरे हुए। ऊपर-ऊपरसे यह चैतन्यरससे परिपूर्ण बालकोको जन्म देता हुआ दिखाई देता है। लेकिन यह वास्तविक नही है। 'यह बूढी महतारी अबतक मरती क्यो नही,' इसीको इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लडकेको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहे, तो क्या आप लडके और नाती-पोते पैदा करते? क्या आपको पता नही कि इतने आदमियोका प्रचड 'लोकसग्रह' या मनुष्यो-का ढेर पृथ्वी सभाल नही सकती? आप इतना भी नही जानते? 'मा तो मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नही, यह कह देनेसे काम नही चलेगा। यह हम नही भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यभाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पडता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और सहार, काम और क्रोध, एक ही छडीके दो सिरे है। 'काम' कहते ही उसमे 'क्रोध' का अतर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिसक वृत्तिवाले सत्पुरुष सहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामे भी हाथ नही बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामसे पैदा किया हुआ होता ही नही। जिस गदे अगरजसे मलिन होनेमे मा-बाप अपने-आपको धन्य मानते है वह रजोरस इसका पैदा किया होता है। कारण इसका अपना जन्म ही रजोगुण की धूल (रज) मे हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमे पडेगे तो यह कभी अघायेगा ही नही, इतना बडा पेट है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल रहे। उन सबको यही अनुभव हुआ

कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वय क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको नि क्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइए, सब आगमे घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमे इसे नि सदेह भस्मासुरसे भी बढकर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुरको वरदान देनेकी गलती न कीजिए।"

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गभीरतासे कहता है—"मोक्षके चक्करमे आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदातकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हे स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बाते सुनाकर भुलावेमे डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पडकर ऐहिक सुखको जलाजलि देना बुद्धिमानीकी बात नही है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योकी चर्चा यदि कोई घडीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनतर नीद आनेसे पहले या नीद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीडा क्षम्य मानी जा सकती है, परतु यदि कोई खाली पेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रखे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी। चादनी बिल्कुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परतु उसकी रोटिया नही बनती। और तो कुछ नही, मोक्षकी चिताकी बदौलत जीवनका आनद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयो-का स्वाद लेनेके लिए तुम्हे इद्रिया दी गई है। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इद्रियोको मारनेका उद्योग करते होगे तो आत्मवचना करोगे और आखिर तुम्हे पछताना पडेगा। पहले तो जो आखोको साफ-साफ नजर आता है उस ससारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमे बडे-बडे दार्शनिक भी सशक है, वैसी, 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है? वेदोने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे सम-वर्तत'—सृष्टिकी उत्पत्ति काममे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगें, तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करना

है उसका पूरा-पूरा विध्वंस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष' के माने अगर अत्यंतिक सुख हो तो सरल भाषामें अर्थ उसका चिरन्तन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्पर विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवाह नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोंका मिलन मनुष्यमें हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्षमें अपने ही सगे-संबंधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया, उसी तरह कर्मयोगके धर्मक्षेत्रमें अपने स्नेही-संबंधियोंको दोनों विपक्षोंसे संलग्न देखकर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी संधिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नहीं, और शुद्ध जडवाद या कामोपासना रुचती नहीं। इन दोनों मंत्रोंमें अद्वैत कायम करना, या उनका सामंजस्य करना बड़े कौशलका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपरवाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयाऽधर्म—मयाऽधर्म' यह गणितकी समता यहां किसी कामकी नहीं। "घरमें चार रोटियां हैं और दो लड़के हैं, तो हरेकको कितनी रोटियां दी जायं?" ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताएं सीखने लगें तो बड़ा अंधेर हो जाय। एक लड़का दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारसे मरेगा और दूसरा भूखसे। ऐसे हिसाबी न्यायका अवलंबन करके आधा शरीरका संतोष, आधा आत्माका संतोष करनेकी कोशिशसे यह मसला हल नहीं होगा। समताका अर्थ है। योग्यताके अनुसार कीमत आंकना। गणित-शास्त्रमें अनंतके आगे चाहे जितनी बड़ी सांत संख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनंतके मुकाबलेमें

शून्य समझी जाती है उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढाई जाय, तो भी आत्माकी अनत महिमाके मुकाबलेमे वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमे शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परतु जबतक देहका बधन है तबतक वह शक्य नही प्रतीत होता। पर 'ससार छोडकर परमार्थ करनेसे खानेको अन्न भी नही मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगोके दिमागमें—या यो कह लीजिए कि पेटमे—तुरत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते है कि गुड-खोपडेके नैवेद्यसे ही भगवान् सतुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान् खाते नही थे, इसलिए वह वही धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड-खोपडा यदि भगवान् सचमुच खाने लगे, तो भगवान्को एकादशी व्रत रखानेके लिए यह नई मडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी! ये आत्माको थोडे-से-सतुष्ट करना चाहते है। कारण कि अगर आत्माको बिल्कुल ही सतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अतरात्माका दश बद नही होता। इसलिए दोनो पक्षोकी दृष्टिमे समझौता वाछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोडनेपर आमादा हो जाते है तब उनका टटा मिटानेके लिए दोनो पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते है। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगडा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ, ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए है। अब, ये—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते है, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारीके समझौतेका स्वाग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अत उनकी भाषा दोनो पक्षोको थोडी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परतु यद्यपि इन लोगोको तकरार मिटानेकी बात करनी पडती है तथापि उनके दिलमें यह उत्कट इच्छा नही होती कि दोनो पक्षोमेंसे किसी

पर भी मार न पडे । वे लहू-लुहान सिर देखना नहीं चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका । यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हो तो उन्हें कोई परवाह न होती । लेकिन दु खका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डडे पडते ही है । इसीलिए झगडा तै करानेकी इतनी उत्सुकता होती है । साराश, धर्म और अर्थ यद्यपि टटा मिटानेके लिए शाति-मत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये है, तथापि वास्तवमे धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो ! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगडा तो खतम होगा ही ! कई बार जो काम लडाईसे नही होता, वह सुलहसे हो जाता है । योद्धाओकी तलवारकी अपेक्षा राज-नीतिज्ञोकी कलमको कभी-कभी सफलता का अधिक हिस्सा मिलता है । 'मोक्ष' और 'काम' को अगर योद्धा मानें तो धर्म, और 'अर्थ' को राज-नीतिज्ञ कहना चाहिए । दोनो समझौता चाहते है, लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि सधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हो, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हो । प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो । यहा इस समझौतेका थोडा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है । उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है । इस प्रकार ये दो सिरे है । धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमे सदेह नही । उस आदर्शके पालनका जोरोसे यत्न करना चाहिए । जब काम बहुत ही भूकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर उसके आगे एकाध टुकडा डाल देना चाहिए । परतु वहा भी उद्देश्य तो सयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममे प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए । ब्रह्मचर्यसे ससार उत्पन्न होगा यह पापके समर्थनमे दी जानेवाली लचर दलील है । ससारके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करे । उसके लिए भगवान् पर्याप्त है । ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नही होगी, बल्कि मुक्ति होगी । फिर भी सयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमे आपत्ति नही है । इसमे कामका भी थोडा-बहुत काम निकल जायगा । लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊगा, इसकी चिंता

और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इससे मोक्षकी भी पूर्व तैयारी हो जायगी।"

अर्थ कहेगा—"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो ससारकी व्यवस्थाका अत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है, न सभव। परतु ब्रह्मचर्यका नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है। वह अशक्त ही नही, अनिष्ट भी है। तव, बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेप रहता है। इसमे थोडा-सा सयमका कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढापेमे इद्रिया जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी। लेकिन विवाहका बधन अभेद्य माननेका कोई कारण नही है। विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं, हम विवाह के लिए नही हैं। इसीलिए हम विवाहके धर्मको स्वीकार नही करते, लेकिन विवाहकी नीतिको स्वीकार कर सकते हैं।"

मोक्षकी दृष्टिमे अहिंसा परम धर्म है। पतजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे वधनसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धात-वाक्य 'ईश्वरोऽहमह भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नही हो सकता, क्योकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रची जा सकती है।

ऐसी स्थितिमे धर्म कहेगा—"कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमे नही होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूपमे कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नही कि उतनी हिंसा करनेका हमे अधिकार है। किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा मागें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें। अगर क्षमा-वृत्ति असभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूगा,' जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमें न रख सकें, हमारे अत करणमे छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा ले, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा

करे। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करे, हमला करनेके लिए नही। उसमे भी फिर हिंसाके साधन, जहातक हो सके, सीधे-सादे और सुथरे हो। केवल शरीरसे ही द्वद्व-युद्ध करे, हथियार काममे न लावे। साराश, चाहे धर्ममे हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामे धर्म का स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा—"हिंसाके बिना ससारका चलना ही असभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमे उसे मानना ही पडेगा। लेकिन हिसा करना भी एक कला है। उस कलामे निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको भी हिंसा नही करनी चाहिए। मुसलमानोके राजमे जितनी गायोकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गाये अग्रेजोके राजमे कत्ल की जाती है, यह बात सरकारी आकडोसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिसाकी कलाके पडित नही थे, इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा, अग्रेजोसे किसीको खास चिढ नहीं होती। इसका कारण है, हिंसाकी कला। इन्फ्लुएजाने तीस करोड आदमियोसे थोडे ही समयमे साठ लाख आदमियोको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुत मलेरिया उससे अधिक आदमियोका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बडा साह ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शाति-परिषद् और शाति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभाति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नही करनी चाहिए। चूनेपर ईंटे और ईंटोपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शातिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शाति के क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शातिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोपर ईंटें ही जमाई जाय तो सारी ईंटे लुढककर गिर जाती है। इसलिए दो हिंसाओके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमे कोई हर्ज नही।"

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत

जहा कामोपभोग ही महामत्र है वहा अर्थ-सचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतमे 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य '—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसचयोसे कदापि नही हो सकती। इसलिए अर्थसग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्य' है। अर्थात् कलके लिए सचय उसके पास नही है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-सग्रह' रखना चाहिए। 'स एवाद्य स उश्व '—"वह आज भी है और कल भी है", यह वर्णन ज्ञान संग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यो न कमाये, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नही घट सकता। परतु द्रव्य-सग्रहकी यह बात नही है। मै अगर पच्चीस दिनके लिए आज ही सग्रह करके रखता हू तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योका आजका सग्रह चुरानेके बराबर है और इतने मनुष्योको कम या अधिक मात्रामे भूखो मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमें अधिक सग्रह ही न होनेके कारण इतना सग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलबन करना पडता है। एक-बारगी सग्रह करनेमे मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पडता है, इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नही रह सकता। अर्थसग्रहकी एक ही क्रियामे सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाचो व्रतोका सामुदायिक भग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर निर्वाहके लिए ही, सग्रह करना चाहिए। वह भी—'अगाना मर्दन कृत्वा श्रमसजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेंसे पानी निकालकर'—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नही होता—'नाप्नोति किल्विपम्' यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परतु जैसाकि कालि-दासने रघुवशके राजाओका वर्णन करते हुए कहा है, उसमे भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नही, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नही है, किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। साराश, सग्रहका परिणाम अश्वत्य या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम, हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो, तो इतना भोग धर्मको मजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुजीथा ।'

अर्थकी रायमे—

"ससारमे जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा, जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमे आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यो-ज्यो उन्नति होगी त्यो-त्यो हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी सभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी ले, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना सग्रह कम करना नही है। सबके सामुदायिक सग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है और वही पौरुषका रास्ता है। सृष्टिमे अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमे उसका पूरा ज्ञान नही है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए सग्रह करनेमे कोई हर्ज नही है—बल्कि, सग्रह करना कर्त्तव्य है। मनुष्यकी जरूरते जितनी बढ़ेंगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और सपत्ति बढेगी। इसलिए सग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिल्कुल ही एकातिक स्वार्थ ठीक नही होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है, इसलिए उसे दूसरोके स्वार्थका भी विचार करना ही पडता है। ससारकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमे थोडा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमे नमक मिलाना है, न कि नमकमे आटा। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गालमे काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धातको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलबनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-सग्राममे जो दुर्बल ठहरेगे उन्हे मरना ही चाहिए, और दुर्बलोको मारनेमें अगर हम कारणीभूत हो, तो वह दूषण नही है, किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोका अपमान करना है। प्याऊ खोलनेमें पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वय धर्म-शास्त्रोने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है, इसका क्या मतलब है?

क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पिये ? दूसरोको 'पानी पिलानेसे उन्हे हमारे पापका अश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अशमे घटेगा, इस विचारमें कहातक उदारता है ? और फिर यह देखिए कि मै लोगोकी चिता करू और लोग मेरी चिता करे, इस तरहका द्राविडी प्राणायाम करनेके वदले क्या यही श्रेयस्कर नही है कि हरेक अपनी-अपनी फिक्र करे ? शहरोमें फूहड स्त्रिया अपने बच्चोको रास्तेपर शौच कराती है। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-वगलमे गदगी न हो, इसलिए अपने वच्चोको दूसरोके घरोके सामने वैठाती है ? और दूसरे भी प्रतियोगी सहयोगके सिद्धातके अनुसार उसके घरके सामने वैठाते है। इसके वदले सीवे अपने वच्चेको अपने घरके सामने वैठाये तो क्या हर्ज है ? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हरेकको स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी वहुत अधिक चिता नही करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पडता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम, क्रोध और लोभ, ये तीन नरकके दरवाजे माने है। इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण, इन्हीपर होना स्वाभाविक हैं। इसलिए इन तीनोके विपयमें समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थ का क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अवतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुपार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहा खीचा गया है, वह शायद कुछ लोगोको अतिरजित मालूम होगा। लेकिन है वह विल्कुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुपार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नही कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुपार्थ माना है। इसका यह अर्थ नही है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहा तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमे रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति हैं। आत्मवान् पुरुप शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुपार्थों' में करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नही लगाई है। वहा

भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असभव भी हो।

शास्त्रकारोने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओकी तरफ सकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहातक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाए कही गई है। मनुष्यको सतोप देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ है। सस्कार-भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते है—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गए है, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते है। माया नदीके प्रवाहमे वहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओके गुलाम होते है। ये दोनो तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे है। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नही कर सकता, क्योकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नही कर सकता, क्योकि उसे किसीके भी सुखकी चिन्ता नही। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनो स्व-अर्थी ही है। "प्रायेण देव-मनुय स्व-मुक्तिकामा'—"देव या ऋषि भी प्राय स्वार्थी ही होते है", यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकातिक वर्गोके सिवा सामाजिक कानूनो या नियमोकी मर्यादाओमे रहनेवाले जो लोग होते है उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पडेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नही है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कद्र नही है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनवनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनवनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित-परायण तो है, परतु जैसा

स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नही है । इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने-आप ही 'सर्वभूत-हितेरत' हो जाता है ।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाजको प्रिय नही होता । कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितको कोई खास परवा नही है । सात्त्विकताका जुल्म भी वह ज्यादा सह नही सकता । यह सच है कि सत जगतके कल्याणके लिए होते है । लेकिन यदि वे जगत के सुखके लिए हो तो समाजको प्रिय होगे । ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि सत समाजको प्रिय है, परतु अपने-अपने समयमे तो वे समाजको काटेकी तरह चुभते थे । आज भी वे इसलिए प्रिय नही है कि समाज उतना आगे वढ गया है, वल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नही है ।

अब, कामशास्त्र चूकि विल्कुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजको दुखदायी होता है । काम-शास्त्र समाजको 'दु ख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनो समाज-बाह्य है । कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्विक 'पुष्टि', दोनो समाजको, एक-सी अपथ्यकर मालूम होती है । किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नही होता और उपवास सहन नही होता । समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है । वेचारा चिकित्सकोको प्रयोगका विपय हो रहा है ! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनो वर्ज्य ठहरे है, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे है । धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनो समाजके लिए मर्यादाए कायम करनेवाले शास्त्र है । दोनोको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा । हमारे यहा मुख्यत धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममे अर्थशास्त्रका हुआ ।

थोडासा समुद्र-मथन करते ही विप निकल आया, परतु अमृत हाथ आनेके लिए वहुत परिश्रम करना पडा । उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गभीर अध्ययनकी आवश्यकता होती है । हमारे यहा भी अर्थशास्त्र

था । वह बिल्कुल रहा ही नही ऐसी बात नही है, परतु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया । आर्य-सस्कृतिमे अर्थशास्त्रका विकास नही हुआ, इसका यही कारण है । या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नही हुआ । पूर्ण विकास हुआ, इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ । पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है । "अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थिति "—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धातका जन्म हुए बिना अर्थशास्त्रका छुटकारा ही नही हो सकता । इस सिद्धातके जन्मके असार पाश्चात्य सस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे ।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे है । गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'—"मै खाद्य हू, मै खाद्य हू, मै खाद्य हू—"ऐसी उपासना करे और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नाद ', अहमन्नाद , अहमन्नाद '—"मै खानेवाला हू, मै खानेवाला हू, मै खानेवाला हू"—यह मत्र जपते रहें, ऐसे नीच श्रम-विभागसे अब दुनिया बिल्कुल उकता गई और चिढ गई है । रस्किन-जैसे दार्शनिकोने अर्थशास्त्रके विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोकी परपरा अव्याहत चल रही है । और उस मोर्चेका अत विजयमे ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे है । 'अर्थशास्त्र' को शकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रखा है । उसी नामका, 'डिस्मल साइस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे है । इसीलिए अर्थशास्त्रके नये सशोधित सस्करण निकलने लगे हैं । इनसब लक्षणोसे आशा की जा सकती है कि पश्चात्य सस्कृतिकी कोखसे धर्मका अवतार होगा । पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है, इससे कुछ लोगो का यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है ।

यह अवतार कितनी देरमे होनेवाला है, यह कहना कठिन है । लेकिन इस अवतारके आनेकी प्रारभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म ो चुका है और वह दिन-पर-दिन बडा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य सस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य सस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा

नीतिशास्त्रसे वहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शव्दोका सग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष सदेश नही होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नही कह सकता। इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नही है। आशा लगाये 'मुझे वरतो, मुझे वरतो' कहते रहना ही उसके भागमे लिखा है। उसकी गिनती पुरुपार्थोमे करनेकी किसीको नही सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धात ही यह है कि किसी भी सिद्धातका अत्यधिक आग्रह नही रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'सतोषसे रहो', 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी सदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नही कर सकता। इसलिए उसके झडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी सभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्रकी अपेक्षा लोगोको लगोटीसे भी अधिक सतोष होता है। 'मरनेतक जीओगे', इस आशीर्वादमे सत्य है, परतु स्फूर्ति नही है। इसलिए इस आशीर्वादमें उतना सतोप देनेकी भी सामर्थ्य नही है, जितना सतोप कि परीक्षितको 'सात दिनमे मरोगे' इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या मानी है? मनुष्यका स्वभाव! सज्ञाके मानी प्रत्येक पदार्थका नाम! ऐसे व्यापक शास्त्रसे मनुष्यको सतोष कैसे हो सकता है? सस्कृत न्यायशास्त्रमें ऐसे ही प्रचड प्रमेय होते है। "जिसमे घटत्व है वह घट है", "जिसमे पटत्व है वह पट है", "जिसमें पत्थरपन है वह पत्थर! और जिसमे यह सव हो वह है न्याय-शास्त्र!" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है। इसलिए धर्ममोक्षकी वात तो जाने दीजिए, अर्थ-कामके वरावरकी स्फूर्ति भी उसमें नही है।

परतु इतना तो मानना ही पडेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौतेका स्वाग क्यो न करे, फिर भी वे पक्षपाती ही है और नीतिशास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्तिके कारण आकर्पण शक्ति कुछ कम भले

ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। नित्यके भोजनमे आकर्षण नही होता। रोजकी खूराक होनेसे नीतिशास्त्रमे चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परतु सारे समाजको देने योग्य उससे बढकर पौष्टिक दूसरी खूराक नही है। धर्म-मोक्ष पोष्टिक होते हुए भी महगे हैं। अर्थ-काम सस्ते तो है, मगर उनकी गिनती कुपथ्यमे होती है। इसलिए ससारको आज नीतिशास्त्रके विना गत्यतर नही है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी सस्कृति धर्म-प्रधान है। परतु इसका यह अर्थ नही कि हम धर्म-प्रधान हैं। हम तो अर्थ-कामके ही दास है। इसलिए यद्यपि हमारी सस्कृतिको नीतिकी परवाह नही, तथापि हमारे लिए नीतिकी उपासना करना नितात आवश्यक है। साराश, क्या हमारी और क्या इतरोकी—सारे ससारकी ही—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोकी शिक्षा इसी भाषामे दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोंका भाषातर नीतिकी भाषामे किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परपरानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममे गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है। इसका केवल इकहरा ही अर्थ नही है, प्रत्युत् दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब गाय ऋण भय शेर ऋण क्रौर्य। इस तरह मेल बैठता है, नही तो शेरको गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोमे भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नही है।

नीतिके आश्रममे भी सभी पुरुषोका आग्रही या एकाकी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशेमे से चारो पुरुषार्थोके रग विल्कुल बदले हुए नजर आयगे। कामकी सुदरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतत्रताका एकत्र दर्शन होगा और सपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी। सौदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातत्र्य, इन चारो दिशाओको नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारो पुरुषार्थ ये नई पोशाके पहनना मजूर करे तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको सतोष होनेकी सभावना है।

परतु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धात न होनेके कारण वह बिल्कुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सतोपकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामे, वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नही है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थोंके मिलापकी सभावना दिखाई जानेपर भी उनमे समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमे नही है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यमे ऋषियोने कर्तृत्ववान योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पडेगी। 'अथ योगानुशासनम्'।

'महाराष्ट्र-धर्म' जनवरी १९२३।

: २६ :

निर्भयता

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—विज्ञ निभयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेक निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरोसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सापोसे जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविप सापोका भेद जिसने जान लिया, साप पकडनेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, साप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सापसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सापोकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सापोतक ही सीमित रहेगी। हरेकको शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सापोमे रहना पडता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है, क्योकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्यको अस्वाभाविक आचरणसे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है।

परतु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनोके सतत अनुष्ठानके बिना वह प्राप्त नही होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवातर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्यको अनावश्यक और ऊटपटाग साहस नही करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पडे तो विवेकसे बुद्धि शात रखना सिखाती है। साधकको चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयताकी आदत डालनेका प्रयत्न करे। वह हरएककी पहुचमे है।

मान लीजिए कि मेरा शेरसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी न हो। अगर बदी हो तो वह टल नही सकती। परतु यदि मै भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शात रखनेका प्रयत्न करू तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी सभावना है? या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मै अपना होश बनाये रखू तो अंतिम समयमे हरि-स्मरण कर सकूगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनो तरहसे लाभदायी है और इसीलिए यह सबके प्रयत्नोका विषय होने योग्य है।

अक्तूबर, १९४०

: २७ :

आत्म-शक्तिका अनुभव

आप सब जानते है कि आज गाधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिंदुस्तानमे गाधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए है। ईश्वर हमारे यहा समय-समयपर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइए, हम ईश्वरसे प्रार्थना करे कि हमारे देशमें सत्पुरुषोकी ऐसी ही अखड परपरा चलती रहे।

मै आज गाधीजीके विषयमे कुछ न कहूगा। अपने नामसे कोई उत्सव

हो, यह उन्हें पसद नही है। इसलिए उन्होने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे सबध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नही दे सकता, परन्तु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते है। कारण, यह उत्सव एक सिद्धातके प्रसारके लिए, एक विचार के विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते है, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नही हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक संदेश है। चिट्ठीका मजमून देखना चाहिए उसकी लबाई-चौडाई और वजन देखनेसे मतलब नही है।

अभी यहा जो कार्यक्रम रहा, उसमे लडकोने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोमे लडके हमेशा उत्साह और आनदसे शरीक होते है। परतु जो प्रौढ लोग यहा इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता, यह कार्यक्रमका बहुत सुदर अग है। सालभरमे कई त्यौहार आते है, उत्सव भी होते है। हम उस दिनके लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते है, परन्तु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नही उठा सकते। ऐसे अवसरोपर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमें साल भर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहा एकत्र हुई मडलीको मैने यह सुझाया कि वे लोग आजसे अगले सालके इसी दिनतक रोज आध घटा नियमित रूपसे कातनेका सकल्प करे। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेगे तो उस निश्चय-को पूरा करनेमे ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इतजारमें ही रहता है कि कौन शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूपसे सूत कातिए। लेकिन इतना ही काफी नही है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोंके लिए नही रखना है, अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यो न हो मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेगे तो उससे हमारा सकल्प-बल बढेगा। यह शक्ति हमारे अदर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नही होता। आत्म-शक्तिका

अनुभव हमे नही होता, क्योकि कोई-न-कोई सकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नही डालते । छोटे-छोटे ही सकल्प या निश्चय कीजिए और उन्हे कार्यान्वित कीजिए, तब आत्म-शक्तिका अनुभव होने लगेगा ।

दूसरी बात यह है कि गावमे जो काम हुआ हे, उसके विवरणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते है जिन्हे इस काममे शुरूसे दिलचस्पी रही । हमें इसकी जाच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमे क्यो नही शामिल होते । कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नही है । इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यो नही कातते । हमने अपना फर्ज अदा कर दिया, इतना काफी है, ऐसा कहनेसे काम नही चलेगा । इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गावभरमे कैसे फैलेगी ? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हो कि सारा गाव एक है । जब आग लग जाती है, वाढ आती या कोई छूतकी वीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गावका विचार करते हैं । लेकिन यह तो अपवाद हुआ । हमारे नित्यके व्यवहारमे यह बात नही पाई जाती । जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नही पडता । जोरसे चुटकी काटिए तो थोडा-सा पता चलता है । यही हाल हमारा है । हमारा आत्म-ज्ञान विल्कुल मरणोन्मुख हो गया है ।

पशुओका आत्मज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है । वे अपनी सतानको भी नही पहचानते । अलबत्ता मादाको कुछ दिनोतक यह ज्ञान होता है, क्योकि उसे दूध पिलाना पडता है । लेकिन यह पहचान भी तभी तक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है । उसके वाद अक्सर वह भी भूल जाती है । नरको तो उतनी भी पहचान नही होती । कुछ जानवरोमे तो वाप अपने वच्चेको खा जाता है । मनुष्य अपने वाल-बच्चोको पहचानता है, इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है । कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकारसे नही होता । उसकी आत्मरक्षाकी शक्ति या युक्तिसे भी इसका पता नही चलता । उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके वडप्पनका हिसाव लगाया जा सकता है । दूसरे प्राणियोका आत्मज्ञान उनके शरीरतक ही रहता है । जगली मानी गई

जातिके मनुष्यमें भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है, वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुबोमे तो यह कौटुबिक प्रेम भी नही होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप बेटोमें झगडे-टटे होते रहते है।

हिंदुस्तानमे फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोडा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुबसे बाहर वह बहुत कम मात्रामे है। जबकोई भारी आपत्ति आ पडती है तो उसके समयके लिए सारा गाव एक हो जाता है। आमतौरपर कुटुम्बसे बाहर देखनेकी वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तान का आत्म-ज्ञान मौतकी तरफ बढ रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गावको एक इकाई मानकर सारे गावकी चिंता कीजिए। यह गोपालकृष्णका मदिर कौन-सा सदेश सुनाता है? इस मदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालकोंको जानेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्णकी छत्रच्छायामें यह सारा गाव एक है', ऐसी भावना का विकास कीजिए।

गावकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजे गावमें ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीज बाहरसे लाने लगेगे तो बाहरके लोगोपर जुल्म होगा। जापानकी मिलों और कारखानोमे मजदूरोको बारह-बारह घटे काम करना पडता है। कम-से-कम मजदूरीमे उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते है? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमे रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामे "हमारी आवश्यकताए पूरी करनेके लिए।" यह वहाके मालदार पूजीपति कहते है। वहाके गरीबोका इसमे कोई फायदा नही, वहाके मालदार आदमियोका भी कल्याण इसमे नही है और हमारा तो हरगिज नही है। हमारे उनका माल खरीदनेसे उन्हे जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते है? उस पैसेसे वे बम बनाते है। उनकी बदौलत वे आज चीनको हरा रहे है। इग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रोका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनोका लोभ बढाते है, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते है। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

वीस-तीस हजार फुटकी ऊचाईसे बम गिराये जाते है। जर्मन लोग बडे गर्वसे कहते है कि "हमने लदनको बेचिराग कर दिया।" अग्रेज कहते है, "हमने बर्लिन को भून डाला।" और हम लोग समाचारपत्रोमें ये सब खबरे पढ-पढकर मजे लेते है। औरतें और बच्चे मर रहे है। मदिर, विद्यालय और दवाखाने जमीदोज हो रहे है। लडनेवालो और न लडनेवालों मे कोई फर्क नही किया जाता। क्या इन लडनेवालोको हम पापी कहे? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे सावित हो सकते है? हम ही तो उनका माल खरीदते है?

इस प्रकार हम दुर्जनोको उनके दुष्ट कार्यमें सक्रिय सहायता देते है। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीजें खरीदते है, हम किसीकी मदद नही करते। खरीदना और वेचना केवल मामूली व्यवहार नही है। उनमे परस्पर दान है। हम जो खरीदार है और वे जो वेचनेवाले है, दोनो एक-दूसरेकी मदद करते है। परस्परके हम सहयोगी है। एक-दूसरे-के पाप-पुण्यमे हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इग्लैडको सोना वेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इग्लैडकी मदद करता है और अग्रेज इस सहायताके लिए उसका उपकार मानते है। व्यापार-व्यवहारमे भी पाप-पुण्यका बडा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें व्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमे लगाता है। बैंकमें पैसे रखने-वाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापके लिए होता हो, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गावकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजे बनानेका काम भी दूसरोको सौपनेका मतलब यह है कि हम खुद परावलवन और आलस्यका पाप करते है और दूसरो-को भी पापमें डालनेमें सहायता करते है।

हिंदुस्तान और चीन दोनो बहुत बडे देश है। उनकी जन-सख्या पचासी करोड, यानी ससारकी जन-सख्याके आधेसे कुछ ही कम है। इतने बडे देश है, लेकिन सिवा नाजके इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट लोक-सख्यावाले देश गैर-मुल्कोके मालके खरीदार है। चीनमे तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तानमें वह भी नही होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलबी है। हम समझते है कि हम तो अपनी जरूरतकी

चीजें खरीदते हैं। हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमें करते होंगे, वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए ? बौद्ध-धर्मावलबी स्वय जानवरोको मारना हिंसा समझते हैं, लेकिन कसाईके मारे हुए जानवरका मास खानेमें वे हिंसा नही मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नही रहना चाहिए। गाधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गावको स्वावलबी बनना चाहिए, तब वे हरेक गावको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनोंसे लोगोपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनों पुण्यके रास्तेपर आवेंगे।

हम अपने पैरोंपर खडे रहनेमें किसीसे द्वेष नही करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लकाशायर, जापान या हिंदुस्तानकी मिलोका कपडा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होनेके कारण वे दूसरे कई धधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठनेके कारण उत्तरोत्तर कगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुर्जनोका बल बढाया है। दुर्जन सघटित होकर आज दुनियाभर राज कर रहे है। इसके लिए हम सब तरहसे जिम्मेदार है।

वास्तवमें ईश्वरने दुर्जनोकी कोई अलग जाति नही पैदा की है। जब द्रव्यसग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलबी हो गए, हमारे गाव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खडे हो सके, तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्तिकी जडें ही उखड जायगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगोपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानवे फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्या इलाज है ?" निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पडेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोसे हमें द्वेष

नही करना है, पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करना है। आजतक दुर्जनोकी सत्ता जो ससारमे चलती रही, इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनोके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्दमे मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग'। या वे 'झगडेका मुह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनोसे दुर्जन होकर लडते थे। जब मै दुर्जनसे उसीका शस्त्र लेकर लडने लगता हू तो उसमे और मुझमे जो भेद है, उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नही है कि मै अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका दू, और जब मै उसका शस्त्र बरतता हू, तो अपने शस्त्रके प्रयोगमे वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मतमे पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको पराजित करना चाहिए। जो थोडे-बहुत सज्जन थे, वे इस 'दुष्ट चक्र'से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनो पगडडियोको छोडकर हमे सत्याग्रहसे यानी स्वय कष्ट, सहकर अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालेके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभग शस्त्र हमे प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्रका वर्णन करते हुए ज्ञानदेवने कहा है, "अगर मित्रतासे ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यो बाधे ?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा। हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नही मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमे रखते हुए सज्जनोको निर्भयता और निर्वैर-बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोकी निन्यानवे प्रतिशत शक्ति नष्ट करनेका काम खादी और ग्रामोद्योगका है। निन्यानवे प्रतिशत जनताके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि पहला सुचारु रूपसे हो जाय तो दूसरेकी जरूरत ही न पडनी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसख्याके एक प्रतिशतकी भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोडे-से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषो द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हू, इन बातोमे गाधी-जयतीका सारा सार आ जाता है।

२ अक्तूबर, '४०

: २८ :

सेवाका आचार-धर्म

सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शाति: शाति शाति ।।

मैंने आज अपने भाषणका आरभ जिस मत्रसे किया है वह मत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढा करते थे । मत्र गुरू और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है । "परमात्मा हम दोनोका एक साथ रक्षण करे । एक साथ पालन करे । हम दोनो जो कुछ सीखे वह, हम दोनोकी शिक्षा, तेजस्वी हो । हम दोनोमे द्वेष न रहे । और सर्वत्र शाति रहे ।" यह इस मत्रका सक्षिप्त अर्थ है । आश्रममे भोजनके प्रारभमे यही मत्र पढा जाता है । अन्यत्र भी भोजन आरभ करते समय इसे पढनेकी प्रथा है । "इस मत्रका भोजनसे क्या सबध है । इसके बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढने योग्य मत्र क्या खोजा ही नही जा सकता ?" यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था । उन्होने वह मेरे पास भेज दिया था । मैंने एक पत्रमे उसका विस्तारसे उत्तर दिया है । वही मै थोडेमे यहा कहनेवाला हू ।

इस मत्रमे समाज दो भागोमे बाटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनोका एक साथ रक्षण करे । भोजनके समय इस मत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए, क्योकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेके लिए ही नही है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए है । इतना ही नही इसमे यह भी माग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ कराये । इसमे केवल पालनकी प्रार्थना नही है, एक साथ पालनकी प्रार्थना है । पाठशालामें जिस प्रकार गुरू और शिष्य होते हैं उसी प्रकर सर्वत्र द्वैत है । परिवारमे पुरानी और नई पीढी, समाजमे स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद है । उसमे फिर गरीब-अमीरका भेद भी है । इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है । हमारे इस

हिंदुस्तानमे तो असख्य भेद है। यहा प्रात-भेद है। यहाका स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपग रहता है। इसलिए यहा स्त्री-पुरुषोमे भी बहुत भेद बढा है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध है ही। परतु हिंदू-हिंदूमे भी, हरिजनो और दूसरोमे भी भेद है। हिंदुस्तानकी तरह भेद ससारमे भी है। इसलिए इस मत्रमे यह प्रार्थना की गई है कि हमे "एक साथ तार, एक साथ मार" मारनेकी प्रार्थना प्राय कोई नही करता। इसलिए यहा एक साथ तारनेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। साराश "हमे दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर," ऐसी प्रार्थना इस मत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अतर जितना कम होगा उतना ही देशका कदम आगे बढेगा। अतर दो तरहसे मेटा जा सकता है। ऊपरवालोके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोके ऊपर चढनेसे। परतु दोनो ओर से यह नही होता। हम सेवक कहलाते हैं, लेकिन किसान-मजदूरोकी तुलनामे तो चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें ? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करू और पडोसमे ही दूसरा भूखो मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजनपर पडती रहे और मै उसकी परवाह न करूं ? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेके लिए एक डडा लेकर बैठू ! मेरा स्वादिष्ट भोजन और डडा तथा उनकी भूख, इसे ऐश्वर्य माने ? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं, परतु हमारी निभ नही सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका निश्चय किया है।" मैंने पूछा, "सो क्यो ?" उन्होने जवाब दिया, "मै नारगयिा खाता हू, वह नही खाते; वह मजदूर है, इसलिए वह नारगिया खरीद नही सकते। अत उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा—"क्या अलग घरमे रहनेसे उनके पेटमे नारगिया चली जायगी ? आप दोनोमें जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनो एक साथ खाते है तबतक दोनोके निकट आनेकी सभावना है। एकाध बार आप उनसे नारगयिा लेनेका आग्रह भी करेगे। लेकिन यदि आप दोनोके बीच सुरक्षितता

की दीवार खडी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवारको सुरक्षितताका साधन मानना कैसा भयकर है! हिंदुस्तानमे हम सब कहते हैं, हमारे सतोने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सर्वत्र है। फिर दीवारकी ओटमें छिपनेसे क्या फायदा? इससे दोनोका अतर थोडे ही घटेगा।"

यही हाल हम खादी-धारियोका भी है। जनताके अदर अभी खादीका प्रवेश ही नही हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी है वे सब सेवक ही है। यह कहा जाता है कि हमे और आपको गावोमे जाना चाहिए। लेकिन देहातमें जानेपर भी, वहाके लोगोको जहा सूखी रोटी नही मिलती वहा मैं पूरी खाता हू। मेरा घी खाना उस भूखेको नही खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घीकी मुझे ईर्ष्या नही। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी सतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो, मगर हम सेवकोको बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हू। मुझे यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्ही लोगो-जैसा दुबला-पतला हू, यह सतोष अब जाता रहा।

इस टगी हुई तख्तीपर लिखा है कि आवश्यकताए बढाते रहना सभ्यता-का लक्षण नही है, बल्कि आवश्यकताओका सस्करण सभ्यताका लक्षण है। तो भी मैं कहता हू कि देहातियोकी आवश्यकताए बढानी चाहिए। उन्हें सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताए आज तो पूरी भी नही होती। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवनका मान बढाना चाहिए। मोटे हिसाबसे तो यही कहना पडेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोकी आवश्यकताए बढानी चाहिए।

यदि हम गावोमें जाकर बैठे है तो हमे इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोका रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बाते भी तो नही करते। महीना-डेढ महीना हुआ, मेरे पैरमें चोट लग गई। किसीने कहा, उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुचा। किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनो आखिर

मिट्टीके ही वर्गके तो हैं। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नही हुआ है, लेकिन अब मजेमे चल सकता हू। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नही सूझता। कारण, उसमे हमारी श्रद्धा नही, विश्वास नही।

हमारे सामने इतना बडा सूर्य खडा है। उसे अपना नगा शरीर दिखाने-की हमे बुद्धि नही होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षासे लाचार हैं, डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हे तपेदिक हो गया, तब वही करेगे।

हम अपनी जरूरत किस तरह कम कर सकेगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मै यहा सन्यासीका धर्म नही बतला रहा हू। खासे सदगृहस्थका धर्म बतला रहा हू। ठडी आब-हवावाले देशोके डाक्टर कहते है कि बच्चोकी हड्डिया बढानेके लिए उन्हे "कॉड लिवर आयल" दो। जहा सूर्य नही है, ऐसे देशोमे दूसरा उपाय ही नही है। कॉड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नही होगे। यहा सूर्यदर्शनकी कमी नही। यहा यह "महा कॉड लिवर आयल" भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नही करते। यह हमारी दगा है। हमे लगोटी लगानेमे शर्म आती है। छोटे बच्चोपर भी हम कपडेकी बाइडिंग (जिल्द) चढाते है। नगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोमे प्रार्थना की गई है कि "मा न सूर्यस्य सदृशो युयोथा।" हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शनसे दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनो कहते है कि खुले शरीर रहो। कपडेकी जिल्दमे कल्याण नही। हम अपने आचारसे ये विना-शक चीजे गावमे दाखिल न करे। हम देहातोमे जानेपर भी अपने बच्चोको आधी या पूरी लबाईका पतलून पहनाते है। इसमे उन बच्चोका कल्याण तो है ही नही, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकला है कि दूसरे बच्चोमे और उनमे भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोको भी अपने बच्चोको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमे देहातोमे जाकर अपनी जरूरते कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी आमदनी बढाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढाई जाय? हममे आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एकका

विशेषण दूसरेको जोड देना साहित्यमे एक अलकार माना गया है। "कहे लडकीसे, लगे बहूको", इस अर्थकी जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लडकीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते है, "देहाती लोग आलसी हो गए।" दरअसल आलसी तो हम है। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते है। बेकारीके कारण उनके शरीरमे आलस्य भले ही भिद गया हो, परतु उनके मनमे आलस्य नही है। उन्हे बेकारीका शौक नही है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओके तो मनमे भी आलस्य है और शरीरमे भी। आलस्य हिंदुस्तानका महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्यको दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गावकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डिया ही बटोरे। यह भगवान् शकरका कार्यक्रम है। हड्डिया इकट्ठी करके चर्मालयमे भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शकर प्रसन्न होगे। या एक बाल्टीमे मिट्टी लेकर रास्ते पर जहा-जहा खुला हुआ मैला पडा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नही।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामे कहा है कि झाडू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य है।" ये कुशल औजार है। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगके लिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड ऐसे ही औजार है। झाडू सिर्फ फिरानेकी देर है, भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपडियामे जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यत्रशास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरैल, खुरपा और झाडू के लिए पैसे नही देने पडते। इसलिए वे सीधे-सादे औजार धन्य है।

रामदासने अपने 'दासबोध' मे सुबहसे शामतककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सवेरे शौच-क्रियाके लिए बहुत दूर जाओ और वहा से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते है कि खाली हाथ आना खोटा काम

है। सिर्फ हाथ हिलाते नही आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे। लेकिन हवा खानेका काममे विरोध क्यो हो ? कुदालीमे खोदते हुए क्या नाक बद कर ली जाती है ? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगहमे बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ता-को सदा खुली हवामे काम करनेकी आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहातमे वह दतुअन ला सकता है। लीपनेके लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से कम किसी एक खेतके कपासके पेड ही गिनकर आ सकता है, यानी फसलका ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नही काटने चाहिए। देहातमे काम करनेवाले ग्राम-सेवकोको सुबहसे लेकर शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

लोगोकी शक्ति कैसे बढेगी, इसके विषयमे अब कुछ कहूगा। देहातमे बेकारी और आलस्य बहुत है। देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं, "महाराजा हम लोगोका बुरा हाल है। घरगे चार खानेवाले मुह है।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यो कहते हैं ? मेरे पास कौन-सा राज धरा है ? मै उनसे पूछता हू, "अरे भाई, घरमे अगर खानेवाले मुह न हो तो क्या बगैर खानेवाले हो। बगैर खानेवाले मुह तो मुर्दोके होते है। उन्हे तो तुरत बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घरमे चार खानेवाले मुह है, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हें भार क्यो हो रहे है ? भगवान्ने आदमीको अगर एक मुह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मुह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहा चार मुह है तो आठ हाथ भी तो है। फिर शिकायत क्यो ?" लेकिन हम उन हाथोका उपयोग करे, तब न ? हमे तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहनेकी आदत होगई है, हाथ जोडनेकी आदत होगई है। जब हाथ चलाना बद हो जाता है तो मुह चलाना शुरू हो जाता है। फिर खानेवाले मुह आदमीको ही खाने लगते है।

हमें अपने दोनो हाथोसे एक-सा काम करना चाहिए। पौनारमें कुछ लडके कातने आते है। उनसे कहा, "बाये हाथसे कातना शुरू करो।"

उन्होने यहीसे कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी। वाया हाथ दाहिनेकी वरावरी नही कर सकेगा।" मैने कहा, "यह क्यो ? दाहिने हाथमे अगर पाच अगुलिया है तो वाये हाथमे भी तो है। फिर क्यो नही बरावरी कर सकेगा।" निदान, मैने उनमेंसे एक लडका चुन लिया और उससे कहा कि "बाये हाथसे कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देनेका जिम्मा मैने लिया। चौदह रोजमे वह साढे चार रुपया कमाता था। वाये हाथसे पहले पखवाडेमे ही उसे करीव तीन रुपये मिले। दूसरे पाखमें वाया हाथ दाहिनेकी वरावरी पर आ गया। एक रुपया मैने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सवकी आख खुल गई। यह कितना वडा लाभ हुआ ? मैने लडकोसे पूछा, "क्यो लडको, इसमे फायदा है कि नही ?" वे कहने लगे, "हा, क्यो नही ?" दाहिना हाथ भी तो आठ घटे लगातार काम करनेमे धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनो हाथ तैयार हो तो अदल-बदल कर सकते है और थकावट बिल्कुल नही आती। अठाईस-के-अठाईसो लडके बाये हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गए।

शुरू-शुरूमे हाथमे थोडा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें जरा कडुआ ही लगता है। पुराणोका एकदम वह मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नही। अमृत अगर, जैसाकि गीतामे कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है ? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारभमे कडुवा ही होता है। मेरी वात मानकर लडकोने तीन महीने तक सिर्फ वायें हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको विल्कुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नही हुई।

देहातमे निदाका दोप काफी दिखलाई देता है। यह वात नही कि शहरके लोग इससे वरी है। लेकिन यहा मै देहातके ही विपयमे कह रहा हू। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिदा रहती है। उससे किसीका भी फायदा नही होता। जो निदा करता है उसका मुह खराब होता है और जिसकी निदा की जाती है उसकी कोई उन्नति नही होती। मै यह जानता तो था कि

देहातियोमे निंदा करनेकी आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूपमे फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था । इधर कुछ दिनोमे मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हू । हमारे संतोकी बुद्धि बडी सूक्ष्म थी । । उसके वाड्मयका रहस्य अब मेरी समझमें आया । वे देहातियोमे भली-भाति परिचित थे, इसलिए उन्होने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ । सतोके लिए मेरे मनमे छुटपनसे ही भक्ति है । उनके किये हुए भक्ति और ज्ञानके वर्णन बडे मीठे लगते थे । लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहने मे क्या बडी विशेपता है । उनकी नीति-विपयक कविताए मैं पढता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं । परस्त्री को माताके समान समझो, पराया माल न छुओ, और निंदा न करो—इतनेमे उनकी नैतिक शिक्षाकी पूजी खत्म हो जाती थी । भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उसी श्रेणीमे वे इन चीजोको भी रखते थे । यह मेरी समझमें न आता था । लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हू । निंदाका दुर्गुण उन्होने लोगोकी नस-नसमे पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होने अनिंदापर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बडा भारी सद्गुण बतलाया । कार्यकर्त्ताओको यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेगे और न सुनेगे । निंदामे अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है । साहित्यमे अत्युक्ति भी एक अलकार माना गया है । ससारको चौपट कर दिया है इन साहित्यवालोने । वस्तु-स्थितिको तिगुना, दसगुना, बीसगुना बढाकर बताना उनके मतसे अलकार है । तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटनेके समान है ? कथाकार और प्रवचनकारकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नही । एकको सौगुना बढानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते । लेकिन यहा तो कोई हिसाब ही नही है । वे एकका सौगुना नही करते, बल्कि शून्यको सौगुना बढाते हैं । सुनता हू, सौ अनतका गुणा करनेसे कोई एक अक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जाने ।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोसे कहना चाहता हू, वह है सचाई । हमारे कार्यकर्ताओमे स्थूल अर्थमे सचाई है, सूक्ष्म अर्थमे नही । अगर मैं किसीसे कहू कि तुम्हारे यहा सात बजे आऊगा तो वह पाच ही बजेसे मुझे

लेनेके लिए मेरे यहा आकर बैठ जाता है, क्योकि वह जानता है कि इस देशमे जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही, इसका कोई नियम नही। इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है ? सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नही बनता। इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गाववालेसे आप कोई काम करनेके लिए कहिये तो वह कहेगा, 'जी हा'। लेकिन उसके दिलमे वह काम करना नही होता। हमे टालनेके लिए 'जी हा' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तग न कीजिए। 'जी हा' से उसका मतलब है कि यहासे तशरीफ ले जाइए। उसके 'जी हा' मे थोडा अहिंसाका भाव होता है। वह 'आगे बढिए' कहकर आपके दिलको चोट पहुचाना नही चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नही देना चाहता, इसलिए 'जी हा' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोसे कराना चाहे वह उन्हे समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नही लिवाना चाहिए। जबसे मैं देहातमे गया तबसे किसीसे किसी बातके विषयमे वचन लेनेसे मुझे चिढ-सी हो गई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूगा तो मैं उससे यही कहूगा कि "यह तुम्हे जचती है न ? बस, तो इतना काफी है। वचन देनेकी जरूरत नही। तुमसे हो सके तो करो।" लोगोको उसकी उपयोगिता समझाकर सतोष मान लेना चाहिए, क्योकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके करानेकी जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते है। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमें वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे दो उसमे हमारा भी अध पतन होता है। इसलिए बापूको राजकोटमे इतना सारा प्रयास करना पडा। इसलिए वचन, नियम या व्रतमे किसीको बाधना नही चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पडे तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करनेमे हर तरहसे मदद करनी चाहिए। सचाईका यह गुण हमारे अदर होना चाहिए।

वाइविलमे कहा है, "ईश्वरकी कसम न खाओ।" आपके दिलमे 'हा' हो तो 'हा' कहिए और 'ना' हो तो 'ना' कहिए। लेकिन हमारे यहा तो राम-दुहाई भी काफी नही समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये विना पक्की नही मानी जाती। सिर्फ 'हा' कहनेका अर्थ इतना ही है कि "आपकी वात समझमे आ गई। अव देखेगे, विचार करेगे।" किसी मजवूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइए तो उसे पता भी नही चलता। दस-पाच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटे लगाइए तव कही उसे पता चलता है कि 'अरे, वह व्यायाम नही कर रहा है, यह तो मुझे फोडने जा रहा है।" एक बार 'हा' कहनेका कोई अर्थ नही। दो वार कहनेपर वह सोचने लगता है कि मैने 'हा' कर दी है। और जव तीसरी वार 'हा' कहता है तव उसके घ्यानमे आता है कि मैने जान-वूझकर 'हा' कही है। कुलका अर्थ इतना ही है ही कि सूक्ष्मदृष्टिसे झूठ हमारी नस-नसमे भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओको अपने लिए यह नियम वना लेना चाहिए कि जो वात करना कवूल करे उसे करके ही दम ले। इसमें तनिक भी गलती न करे। दूसरे से कोई वचन न ले। उस झझटमे न पडे।

अव कार्यकर्त्ताओसे कार्य-कुशलताके वारेमे दो-एक वाते कहना चाहता हू। जव हम कार्य करने जाते है तो चालू पीढीके वहुत पीछे पडते है। चालू पीढीका तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिए लेकिन उसके पीछे न पडिए। उसके शरीरके समान उसका मन और उसके विचार भी एक साचेमे ढले हुए होते है। जो नई वात कहना हो वह नौजवानोंसे कहनी चाहिए। तरुणोके विचार और विकार दोनो वलवान् होते है। इसलिए कुछ लोग उन्हे उच्छृखल भी कहते है। इसमे सचाई इतनी ही है कि वे वलवान् और वेगवान् होते है। अगर उनके विचार वलवान् हो सकते है तो वैराग्य भी जवरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र वढती है वैसे-वैसे विकारोका शमन होता जाता है। मोटे हिसावसे यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नही। यह कोई शास्त्र नही है। हमारी वात चालू पीढीको अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जचे तो भी कोई हानि नही। भावी पीढीको हाथमे लेना चाहिए। युवक ही नए-नए कामोमे हाथ डालते है,

बूढे नही। विकार किस तरह बढते या घटते है, यह तो मै नही जानता। लेकिन इतना तो मानना पडेगा कि वृद्धोकी अपेक्षा तरुणोमें आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नही करनी चाहिए। पाच-दस साल काम करनेपर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तानके लोग हजार सालके बूढे है। जब किसी गावमें कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते है कि ऐसे तो कई देख चुके है। साधु-सत भी आये और चले गये। नया कार्यकर्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषयमे उन्हे सदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते है कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बडी बात नही।

ग्रामवासियोंसे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रग हमपर भी चढ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नही है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्व है उतना परिचयका नही। समाजके साथ समरस होनेसे उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमे अहकार है। हम कोई पारस पत्थर है कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा, यह माननेमे जडता है। रामदास कहते है, "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायको हौसला रखना चाहिए, लेकिन अखड और स्थिर होकर एकात-सेवन करना चाहिए।" वे कहते है कि, "कोई जल्दी नही है? शातिसे अखड एकात-सेवन करो।" एकात-सेवनसे आत्म-परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे किस हदतक संपर्क बढाया जाय, यह ध्यानमे आता है, अन्यथा अपना निजी रग न रहकर उसपर दूसरे रग चढने लगते है। कार्यकर्त्ता फिर देहातियोके रगका ही हो जाता है। उसके चित्तमे व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लू। एकाध बडे आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मै दो-चार महीने आपका सत्सग करना चाहता हू। फिर वे महादेवजी और

ये नदी, दोनो एक जगह रहने लगते है ! वह कहता है, "मै वडा होकर खराब हुआ । अब तू मेरे पास रहता है । इसमे कोई लाभ नही ।" इसलिए समाजमे सेवाके लिए ही जाना चाहिए । बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमे बिताना चाहिए । आत्म-परीक्षणके बिना उन्नति नही हो सकती । अपने स्वतत्र समयमे हम अपना एकाध प्रयोग भी करे । कई कार्यकर्त्ता कहते है, "क्या करे, चिंतनके लिए समय ही नही मिलता । जरा बैठे नही कि कोई-न-कोई आया नही ।" जो आये उससे बोलनेमे समय बिताना सेवा नही है ! कार्यकर्त्ताको स्वाध्याय और चिंतनके लिए अलग समय रखना चाहिए । एकात-सेवन करना चाहिए । यह भी देहातकी सेवा ही है ।

एक बात स्त्रियोके सबधमे । स्त्रियोके लिए कोई काम करनेमे हम अपनी हतक समझते है । पौनारका ही उदाहरण लीजिए । व्याकरणके अनुसार जिनकी गणना पुल्लिगमे हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नही फीचता । बापके कपडे लडकी धोती है, और भाईके कपडे बहनको धोने पडते है । माकी साडी फीचनेमे भी हमे शर्म आती है, तो पत्नीकी साडी धोनेकी बात ही क्या ? अगर विकट प्रसग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है । और वह भी न मिले तो पडोसिन यह काम करेगी । अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साडी साफ करनेका मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शामको, कोई देख न पाये ऐसे इतजामसे, चुपचाप, चोरीसे, कर लिया जाता है । यह हालत है ! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिल्कुल उलटा है । लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करे तो आगे चलकर वे स्त्रिया ही आपके कपडे बना देगी, इसमे तनिक भी शका नही । एक बार मै खादीका एक स्वावलबन-केंद्र देखने गया । दफ्तरमे कोई सत्तर-पचहत्तर स्वावलबी खादी-धारियोकी तालिका टगी हुई थी । लेकिन उसमे एक भी स्त्री नही थी । यहा जो सभा हुई, उसमे मेरे कहनेसे खासकर स्त्रिया भी बुलाई गई थी । मैने पूछा, "यहा इतने स्वावलबी खादीधारी पुरुप है तो क्या स्त्रिया न कातेगी ? स्त्रियोने जवाब दिया, "हम ही तो कातती है ।" तब मैने खुद कातनेवाले पुरुषसे हाथ उठानेको कहा । कोई तीन-चार हाथ उठे । शेष सब स्त्रियो द्वारा काते गये सूतके जोरपर स्वावलबी थे । इसलिए कहता हू

कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके कपड़े तैयार कर देंगी। कम-सेकम खादी-यात्रामे पहननेके लिए एक साडी अगर आप उन्हे बना दें तो भी मैं सतोष मान लूगा। अगर वे यहा आयगी तो कम-से-कम हमारी बाते उनके कानोतक पहुचेगी।

: २६ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले होगया है। यह कोकणस्थोका मूल पुरुष है। माकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी ओरसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं, "यह कहातक उपयुक्त था?" लेकिन उसकी श्रद्धाको मशकता छूतक नही गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना,' यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोके प्रति दया थी और अन्यायोसे तीव्रतम चिढ। उस समयके क्षत्रिय बहुत उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका रक्षक कहते थे। लेकिन व्यवहारमें तो उन्होने कभीका 'र' को 'भ'मे बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाकर छोडूगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाडी रखने लगा और कुल्हाडीमे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उडाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोमे जारी की। पृथ्वी नि क्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया, लेकिन पुराने क्षत्रियोको जानबूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोका निर्माण करनेकी प्रक्रियाका फलित भला क्या हो सकता था?

आखिर रामचद्रजीने उसकी आखोमें अजन डाला । तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी ।

तब उसने उस समयके कोकणके घने जगल तोड-तोडकर बस्तिया बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया । लेकिन उसके अनुयायियोंको कुल्हाडीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड गया था । इसलिए उन्हें कुल्हाडीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा । निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सबधी त्याग देते है, उसी प्रकार उसके अनुयायियोंने भी उसे छोड दिया ।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा । ऐच्छिक दरिद्रताका कारण बननेवाले, आरण्यक प्रजाके आदि-सेवक भगवान् शकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जगल काटना, झोपडिया बनाना, वन्य पशुओकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बधुओको सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगोमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा । निष्ठावत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नही रहने पाती । परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोकणके जगलोके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होने उनका अच्छा साथ दिया । अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोने तो उसका साथ छोडकर शहरोकी पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले । उसने उन्हे स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी । एक दिन परशुरामने उनसे कहा, "भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये ।"

राम और परशुरामकी पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसगके बाद एक बार हुई थी । उसी वक्त उसे रामचद्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी । उसके बाद इतने दिनोमें उन दोनोकी भेंट कभी नही हुई थी । लेकिन अपने वनवासके दिनोमें रामचद्र पचवटीमें आकर रहे थे । उनके वहाके निवासके आखिरी वर्षमें बागलाणकी तरफसे परशुराम उनसे मिलने आया था । वह जब पचवटीके आश्रममें पहुचा, उस समय रामचद्र पौधोको पानी दे रहे थे । परशुरामसे मिलकर रामचद्र को बडा ही आनद हुआ । उन्होने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुषका साष्टाग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके

बाद उसके कार्यक्रमके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाडीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचद्रको सुनाया। वह सुन रामचद्र ने उसका बडा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहासे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोको रामका सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमे उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मै तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दो द्वारा कोई भी उपदेश नही दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मै अब तुम लोगोको सुनाता हू।

"हम लोग जगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे है, वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड काटते ही रहेंगे, तो वह एक बडी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्त्तापर उलटे बिना नही रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड काटनेका काम खत्म करे। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया, क्योकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमे जीवनोपयोगी वृक्षोके रक्षणका काम भी अपने हाथमे लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हे आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास, आदि छोटे-बडे फलके वृक्षोके सगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वय वनस्पति-सवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पडा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्वपूर्ण शोध भी किये। पेडोको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हे व्यवस्थित काटने-छाटनेकी जरूरत महसूसकर उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु'का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड लगानेका एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहा आये हुए लोगोके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगो और अनुभवोका

सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमे समुद्र गरज रहा था। उनकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरभ किया——

"भाइयो, यह समुद्र हमे क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिए। इतना प्रचड शक्तिशाली है यह, परतु अपने परम उत्कर्षके समय भी यह अपनी मर्यादाका उल्लघन नही करता। इसलिए इसकी शक्ति हमेशा ज्यो-की-त्यो रही है। मैने अपने सारे उद्योगो और प्रयोगोमेंसे यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपनमे मैने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मै उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नही था। मै कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मै मातृ-हत्यारा नही हू, प्रत्युत पितृ-भक्त हू।'

"लेकिन आज मै अपनी गलती महसूस करता हू। मातृवधका आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नही था, और आज भी नही है। लेकिन मेरे ध्यानमे यह बात नही आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमे कोई सहायता नही पहुची।

"बादमे बडा होनेपर न्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मै जुल्मी सत्तासे इक्कीस बार लडा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मै सफल हो गया हू, लेकिन प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचद्रने मेरी गलती मुझे समझा दी।

"अन्याय-प्रतिकार मनुष्यका धर्म तो है, लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरात मै जगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव-सेवाके कार्यमे जुट गया, लेकिन आप जानते ही है कि जगल काटनेकी भी एक हद होती है, उस बातका ज्ञान मुझे ठीक समयपर कैसे हुआ?

"अबतक मै निरतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा। पर आखिर

प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवृत्त होनेकी सोच रहा हू । इसके मानी यह नही है कि मैं कर्म ही त्याग दूगा । स्वतत्र नई प्रवृत्तिका आरभ अब नही करूगा । प्रवाह-पतित करता रहूगा । प्रसगवश आप पूछेगे तब, सलाह भी देता रहूगा ।

"इसीलिए मैंने आज जानबूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिए, आपसे निवेदन किया है । फिर-से थोडेमे कहता हू---पितृ-भक्तिकी मर्यादा, प्रतिकारकी मर्यादा, मानव-सेवाकी मर्यादा---साराश, सभी प्रवृत्तियोकी मर्यादा---यही मेरा जीवनसार है । आओ, एक बार सब मिलकर कहे, "ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै ।"

इतना कहकर परशुराम शात हो गया । उसके उपदेशकी यह गभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कदराओमे आज भी गूजती हुई सुनाई देती है ।

नागपुर-जेल, १९४१

: ३० :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजकल खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है । अब श्रद्धाके साथ-साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है । खादीवाले ही यह समय लाये है, क्योकि उन्होने ही खादीकी दर बढाई है ।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी । मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते-करते चार आने गज पडने लगी । चारो ओर "यत्र-युग" होनेके कारण कार्यकर्त्ताओने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया । इस हेतुकी सिद्धिके लिए जहा गरीबी थी उन स्थानोमे कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्तिका कार्य चलाना पडा । लेनेवालोने भी ऐसी खादी इसलिए ली की वह सस्ती थी । मध्यम-वर्गके लोग कहने लगे---अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योकि

उसके भाव मिलके कपडेके बराबर हो गये है, वह टिकाऊ भी काफी है और महगी भी नही है। अर्थात्, 'थुडमुली और घनुदुधी' इस कहावतके अनुसार खादीरूपी गाय लोगोको चाहिए थी। उन्हे वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे है।

यह बात तो गाधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोको अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हे रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लालबुझक्कडकी बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हमे विचार करना चाहिए। हम अभी साठके अदर ही है, ससारसे अभी ऊब नही गये है, दुनियामें अभी हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नही जचते तो यह समझकर हम उन्हे छोड सकते है कि यह खब्ती लोगोकी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढी तबसे मुझमे मानो नई जान आ गई। पहले भी मै यही काम करता था। मै व्यवस्थित कातनेवाला हू। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममे लाता हू। कातते समय मेरा सूत टूटता नही, यह आपने अभी देखा ही है। मै श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हू। आठ घटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पडती थी। रीढमें दर्द होने लगता था। लगातार आठ घटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घटे उसी आसनमे कातता रहता। तो भी मै सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्रमे इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मै करता रहता था। यह मजदूरी बढ गई, इससे मुझे आनद हुआ, कारण मै भी एक मजदूर ही हू। "घायलकी गति घायल जानै।"

मेरे हाथके सूतकी धोती पाच रुपयेकी हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये मे खरीदनेको तैयार है। कहते है, "यह आपके सूतकी है, इसलिए हम इसे लेते है।" ऐसा क्यो? मै मजदूरोका प्रतिनिधि हू। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हे भी दो। ऐसी परिस्थितिमे मुझे यही चिता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालोको मालूम हो रही है।

समारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धधे करनेवाले और (३) कुछ भी धधा न करनेवाले, जैसे बूढे, रोगी, बच्चे, वेकार वगैरा। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका—यह नियम है कि इन तीनो वर्गोमें जो ईमानदार हैं उन सवको पेटभर अन्न, वस्त्र और आश्रयकी आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। कुटुब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुवमें वैसा ही समस्त राष्ट्रमे होना चाहिए। इसीका नाम हैं 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्रमें सव ईमानदार आदमियोके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगोंके पोपणका भार राष्ट्रके ऊपर नही हो सकता।

इग्लैड-सरीखे देशोमें (जो यत्र-सामग्रीसे सपन्न हैं) दूसरे देशोकी सपत्ति वहकर आती है, सब वाजार खुले हुए है, नाना प्रकारकी सुविधाए प्राप्त है, तो भी वहा वेकारी है। ऐसा क्यो? इसका कारण है यत्र। इस वेकारीके कारण प्रतिवर्प वेकारोको भिक्षा (डोल) देनी पडती है। ऐसे २०-२५ लाख वेकारोको मजदूरी न देकर अन्न देना पडता है। आप कहते हैं कि भिखारियोको काम किये वगैर अन्न न दो, पर वहा अन्नदानका रिवाज चालू हैं। इन लोगोको काम दीजिए। इन्हे काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नही तो खानेको दो', यह नीति इग्लैडमें है तो सारे ससारमे क्यो न हो? यहा भी उसे लागू कीजिए। पर यहा लागू करनेपर काम न देकर १॥ करोड लोगोको अन्न देना पडेगा। यहा कम-से-कम १॥ करोड मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाव देखकर कह रहा हू। इतने लोगोको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नही दिया जा सकता—मनमें ठान लिया जाय तो भी नही दिया जा सकता। उधर, चूकि इग्लैडवाले दूसरे देशोकी सपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना सभव नही हो सकता।

हिंदुस्तान कृपि-प्रधान देश है, तो भी यहा ऐसा धधा नही जो कृपिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्वल समझा जाता है। यहा हिंदुस्तानमे तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहाकी जमीनपर कम-से-कम दस हजार वरससे काश्त की जाती है। अमेरिका हिंदुस्तानसे तिगुना वडा मुल्क है, पर आवादी वहाकी

सिर्फ १२ करोड है। जमीनकी काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्वसे हो रही है। इसलिए वहाकी जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोके हाथमे और भी धधे दिये जाय तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तानमे काश्तकारी टिक सकेगी।

साराश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पडेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते है कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नही होता। इसमें दुःख नही, आनद है। खादी बीडीके बडल अथवा लिप्टनकी चाय नही है। खादी एक विचार है। आग लगानेको कहे तो देर नही लगती, पर यदि गाव बसानेको कहे तो इसमे कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादो निर्माण का काम है, विध्वसका नही। यह विचार अग्रेजोके विचारका शत्रु है। तब खादीकी प्रगति धीमी है, इसका दुःख नही, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही, पर उस खादीमे और आजकी खादीमे अतर है। आजकी खादीमे जो विचार है, वह उस समय नही था। आज हम खादी पहनते है, इसके क्या मानी है? यह हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आजकी खादीका अर्थ है सारे ससारमे चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीके प्रवाहके ऊपर चढना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय—जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका सहार करनेवाली मै हू", यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्ध" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलकें कपडे से तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई, मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मै मिलकी तुलनामे सस्ती नही, महगी हू। मै बडे मोलकी हू। जो-जो विचारशील मनुष्य है, मैं उन्हें अलकृत करती हू। मै सिर्फ शरीर ढापने-भरको नही आई, मै तो आपका मन हरण करने आई हू।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौरसे जायगी। खादीके प्रचलित विचारो की विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोकी गणना पागलोमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग वताये है—काश्तकार, अन्य धधा करनेवाले और जिनके पास धधा नही—उन सभी ईमानदार मनुष्योको हमे अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्ते है। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या वदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातनेका काम करने-वाले, ये सव काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, वैल, गाय दूध इन वस्तुओके विषयमें काश्तकारको स्वावलवी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त है कि जो वस्तुए काश्तकार तैयार करे, वे सव दूसरोको महगी खरीदनी चाहिए। तीसरी वात यह है कि इनके सिवाय वाकीकी चीजें जो काश्तकारको लेनी हो वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न-वस्त्र, दूध ये वस्तुए महगी, पर घडी, गिलास-जैसी वस्तुए सस्ती होनी चाहिए। वास्तवमे दूध महगा होना चाहिए, जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए जो है महगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार रूढ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरोको नियमित रूपसे अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी वात छोडिए। जिस राष्ट्रमे ७५ प्रतिशत काश्तकार हो, उसमें यदि ये वस्तुए सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी वनानेके लिए खादी, दूध, अनाज ये काश्तकारोकी चीजे महगी और वाकीकी चीजे सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते है, "तुम्हारे ये सव विचार प्रतिगामी है। इस बीसवी सदीमें तुम गाधीवाले लोग यत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मै कहता हू कि क्या आप हमारे मन की वात जानते है? हम सब यत्र-विरोधी है, यह आपने कैसे समझ लिया? मै कहता हू कि हम यत्रवाले ही है। एकदम आप हमें समझ सकें, यह वात इतनी सरल नही है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले है। मै कहता हू कि आपने यत्रोका आविष्कार किया है न? हमें भी वे मान्य है। काश्तकारोकी वस्तुए छोडकर वाकीकी वस्तुए आप सस्ती कीजिए। अपनी यत्रविद्या काश्तकारोके धधोके अलावा दूसरे धधोपर चलाइए और वे सारी वस्तुए सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उलटा।

काश्तकारोकी वस्तुए सस्ती, पर इतने यत्र होते हुए भी यत्रकी सारी वस्तुएं महगी ! मै खादीवाला हू, तो भी यह नही कहता कि चकमकसे आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारोको एक पैसेमे पाच डिबिया क्यो नही देते ? आप कहते है कि हमने बिजली तैयार की और वह गाववालोको चाहिए। तो दीजिए न आध आनेमें महीने भर ! आप खुशीसे यत्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए, जैसा मै कहता हू। केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यत्रोकी बनी वस्तुए पैसे-दो-पैसेमे मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारोसे खरीदना चाहिए। यदि आप कहे कि हमे यह जचता नही, तो काश्तकार भी कह दे कि हम अपनी चीजे खाते है, हमारे खानेके बाद बचेगी तो आपको देगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए। बहुतोके सामने यह समस्या है कि खादी महगी हुई तो क्या होगा ? पर किनका ? किसानोको खादी खरीदनी नही, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महगी नही, वह उन्हे दूसरोको महगी बेचनी है।

: ३१ :

खादी और गादीकी लड़ाई

सोनेगावकी खादी-यात्रामें शिष्ट लोगोके लिए खादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योकि वहा जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौकेपर मुझे कहना पडा था कि खादी और गादीकी अनबन है, दोनोकी लडाई है और अगर इस लडाईमे गादीकी ही जीत होनेवाली हो तो हम खादीको छोड दे।

लोग कहते है, 'खादीकी भी तो गादी बन सकती है ?' हा, बन क्यो नही सकती ? अगूरसे भी शराब बन सकती है। लेकिन बनानी नही चाहिए और बनानेपर उसे अगूरमे शुमार न करना ही उचित है।

हमे ध्यान देना चाहिए भावार्थकी तरफ। बीमार, कमजोर और बूढोंके लिए गादीका इतजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोमे फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकियेका आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरहकी गादी और खादीमें विरोध है।

वास्तवमे तो जो गादी हमेशा आलसी लोगो और खटमलोकी सोहबत करती है उसे शिष्ट जनोके लिए बिछाना उनका आदर नही, बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमे अपना अपमान नही समझते। हमने तो यहातक कमाल कर दिया कि शकराचार्यकी भी गद्दी बनानेसे बाज नही आये! शकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्त खलु भाग्यवन्त."—लगोटिये ही सबसे बडभागी हैं। और किसीको यह बात चाहे जचे या न जचे, कम-से-कम आचार्यके भक्तोको तो जचनी ही चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते है और गिरते हैं। लेकिन आलस्य, विलासिता और जडता कभी ऊपर उठती ही नही। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपतकी लडाई के लिए भी सकुटुब, सपरिवार गये, मानो किसी बरातमे जा रहे हो और वहासे कार्यसिद्धिसे हाथ धोकर अपना-सा मुह लेकर लौटे। गिबनने कहा है—"रोम चढा कैसे ?" "सादगीसे", "रोम गिरा कैसे ?" "भोग-विलाससे।"

कुछ साल पहले, असहयोगके आरभकालमे, देशके युवको और बूढोमे, पुरुषो और स्त्रियोमे, त्यागवृत्ति और वीरताका सचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बडे अभिमानसे बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमानसे खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादीका कुछ और ही ढगसे गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्वसे कहने लगे, "देखिए, अब खादीमें कितनी तरक्की होगई है। बिल्कुल अप-टू-डेट—अद्यतन—पोशाक, विलासी, भडकीली, महीन, जैसी आप चाहें खादीकी बनवा लीजिए। और सो भी पहलेकी अपेक्षा कितने सस्ते दामोमे!" खरीदार भी कहने लगे, "खादीकी प्रतिष्ठा इसी

तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढे और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपडेकी ही बराबरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है ? मिल ही क्या बुरी है ? वैद्य अपनी दवाईकी तारीफ करने लगा, "बिल्कुल सस्ती दवाई है, न पहहेज की जरूरत न पथ्यकी।" मरीज आ गया चकमेमे। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि 'पथ्य-परहेज नही तो फायदा भी नही।'

कोई गलत अर्थ न समझे। कहनेका यह मतलब कतई नही है कि मजदूरोको पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्त्तव्य नही है। यह भी कोई नही कहता कि खादी सब लोगोकी सब तरहकी जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादीका गौरव किस बातमे है ? किसीकी आखे बिगड गई हो तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारीको देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बडाई तो नही की जा सकती।

यहा एक प्रसग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कला-धर एक बार पढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशसा करते नही अघाते, उनके उद्घोष (स्लोगस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्तिको देखकर कही भी सुदरताका खयाल नही आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्त्तिकार और भक्तगण दोनो, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छालाभसे ही सतुष्ट हो गये। पचतत्रवाले किस्सेमे जिस तरह उन तीन धूर्तोंने सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरेको कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगोने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थरमें सुदरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैने जवाब दिया, "हा, यही बात है। इस ससारकी भीमा नदीमे गोते खानेवालोको उबारनेका जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्यापर लेटनेवाले या पचायतनका ठाट जमाकर तसवीर खिचनेवाले के लिए आसन लगानेवाले देवताकी सुदरताका अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगी ?" रामदासने सिखाया है—"मनुष्यके अतरगका शृगार है चातुर्य,

वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनोमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजीको हट्टे-कट्टे मावलो-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये! यहा दरिद्रताके पुजारी नही हैं। अपने राम तो वैभवके आराधक है।" मैं उससे कहना चाहता हू, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्लके पीछे लट्ठ लेकर मत पडो। हम कब दारिद्रयको नारायण कहते है? हम तो 'दरिद्र' को नारायणके नामसे पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोडे ही है कि धनिक 'नारायण' नही हो सकता? यदि मैं कहू कि 'मैं ब्रह्म हू' तो इसका यह अर्थ थोडे ही है कि 'तुम ब्रह्म नही हो?' बस, अब तो सतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्र-नारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है और श्रीमन्नारायण-की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्यका अर्थ समझाकर उसका त्याग करवानेसे होती है और जब किसी मूर्ख-नारायणसे पाला पडे तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझानेसे होती है! क्यो, ठीक है न?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोदको जाने दीजिए। अगर समाजवादी दोस्तको वैराग्य नही सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातोको भी रहने दीजिए। लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न? इन दो-चार आदमियोको नरम-नरम गादी मिले और बाकी सबको टाटके चीथडे या धूल नसीब हो, वह तो उसे नही भाता न? जब मैंने खादी और गादीकी लडाईकी बात छेडी तो मेरे मनमे यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगोके लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खडा होता। लेकिन यह मुमकिन नही था। और मुमकिन नही था, इसीलिए मुनासिब भी नही था, यह ध्यानमें आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तोमें एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बडा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बडे आनदसे साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुरके बाद हरिपुराकी काग्रेसने विषमता-की दिशामे एक कदम और आगे बढाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बडे नेता,

छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता---इन सबके लिए वहा दर्जेवार प्रबध किया गया था। गाधीजीके लिए यह दारुण दु खका विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोपर ही होता हो, सो बात भी नही। हमारे जीवन और मनमे उसने घर कर लिया है। "मजदूरोको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नही", इस विपयपर बहस हो सकती है, पर, "व्यवस्थापकोको पूरा वेतन दिया जाय या नही," इसकी बहस कोई नही छेडता। जिन्हे हम देहातकी सेवाके लिए भेजते है उन्हे अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायत देते है। उन्हे देहातमे भेजने और हिदायते देनेको तो हम तैयार रहते है, लेकिन हमे इस बातकी क्या तनिक भी अनुभूति नही होती कि स्वय हमको भी अपनी हिदायतोके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी भेदसे दुश्मनी है, लेकिन विवेकसे तो नही है ? इसीलिए बूढोके लिए गादी हमने मजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्त्ता और उन्हे वहा भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओके जीवनमे थोडा-बहुत फर्क होना न्याय-सगत है और विवेक उसे मजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धातोकी भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नही रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोडा-बहुत नही है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजरमे सहज ही आनेवाला ही नही, बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभवका नाम गादी है और इस गादी से,खादीकी दुश्मनी और लडाई है।

हालही में आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ रही है, इसीलिए अब नई जगह मोल लेकर ग्राम-शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तरके कार्यकर्त्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मै साम्यवादी नही हू यह भी जानता था। मैने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमे कहा--"मै दाल हजम नही कर सकता, इसलिए दही खाता हू। मजदूरको दहीका शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दालसे काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या

हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है ? जिस तरह मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यो नही हो सकता ? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यो न हो ?"

आप चाहे वैराग्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नही है। महत्त्व है "तत्काल साम्यवाद" का। साम्यवादको तुरत कार्यान्वित करनेकी सिफतका नाम अहिसा है। अहिसा हरेकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है।" अहिसाका चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथो अपना गला घोट लिया।

इस सारे अर्थका सग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और गादीमें लडाई है।

: ३२ :

खादीका समग्र दर्शन

जलमें तटस्थ चितनके लिए थोडा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आदोलनके विषयमे और हिंदुस्तान तथा ससारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगडी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहा करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छटनेके थोडे ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लडाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए जेलमे किये कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ हुए। इस युद्धके विरोधमें हम प्राय तीन कारण दिया करते थे. पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनो पक्षोकी—

चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा, और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नही ली गई। लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदानमें कूद पडनेके बाद अब करीव-करीब सारा ससार ही युद्धमे शामिल हो गया है। अव यह युद्ध मनुष्यके साथमे नही रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ है। हमारे युद्धविरोधका यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेजमें (वर्धा) मे भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार ससारके सभी बडे राष्ट्रोके युद्धमे शरीक हो जानेसे, हिंदुस्तानकी, जोकि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमे ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अग्रेजी राजसे पहले हिंदुस्तान स्वावलबी था। इतना ही नही, वह अपनी जरूरते पूरी करके विदेशोको भी थोडा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीव पूरी तरह परावलबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरजाम, वगैरामे जो परावलबन है, उसकी बात मैं नही कहता। हालाकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस वातका विचार भी करना ही पडता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओंकी ही बात कह रहा हू। ये चीजे आज हिंदुस्तानमे नही वनती और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकेगी। लडनेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमे होगे, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोतक न पहुचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेगे। अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नही सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना कम हो गया या वद हो गया, तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहा वनानेके विषयमे सरकार, अगर हेतुपूर्वक नही तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लडाईपर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गभीर योजनाए नही सूझेंगी। गभीरतासे जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्धके विषयमे ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अगरेजोके कब्जेमें बनाये रखना

—भर हमारा कर्त्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नही। ऐसी अवस्थामे हम कार्यकर्त्ताओपर बहुत बडी जिम्मेदारी आ पडती है।

यो लोगोपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नही होती, उसके लिए लोगोकी मिन्नतें करनी पडती है। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लडाईकी परिस्थितिमे लोगोकी माग हम पूरी नही कर सकते। ऐसे सकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सकें, तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुजाइश रहेगी।

जाजूजीने 'खादी जगत' द्वारा हालहीमे एक योजना पेश की है। उसमे उन्होने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे, लेकिन सरकारी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अशमे खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्त्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्राय मजूर करना पडेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो यहा हम प्रवेश नही पा सकते, वहा धीरे-से अपनी पोटली रख देते है। हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते है, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है। वह देखो, उस कोनेमे थोडी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहा पडी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्‌गुणोपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परतु इस प्रकार की अकाल-पीडित खादी खादीकी बुनियाद नही हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नही है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अतिम योजनामे भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा, और आजसे कही अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी सपूर्ण योजनाका एक अगमात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलबन जारी है उससे, यानी इस गावमें चार वस्त्र-स्वावलबी आदमी है, उस तहसीलमें सौ-दो-सौ है, इसी प्रकार दूसरे गावोमें भी वस्त्र-स्वावलबन शुरू करते रहनेसे, भी

हमारा मुख्य काम नही होता। यह तो चौराहोपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी बत्तिया लगनेके समान है। इन बत्तियोका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारो तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तिया घरके चिरागोका काम नही देती। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलवन भी खादीका मुख्य कार्य नही है।

खादीकी नीव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपडा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोको थोडी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोकी खादीकी माग बढेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नही कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमे अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे, तो हम दोपी समझे जायगे और यह दोपारोपण न्यायानुकूल ही होगा, क्योकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने वीस वर्षोमे एक गिरे हुए राष्ट्रको खडा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमे जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अडतीसमे वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन वीस वरसोमे ही कमाई। इतने समयमे उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनो प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमे है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमे खादी अधिक प्रगति नही कर सकी, इसकी कई वजहे हैं। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हमे अपने तई अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नही है। फिर भी ऐसे सकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गए, तो, जैसाकि मै कह चुका हू, खादीके लिए एक कोना दिखाकर उतनेसे सतुष्ट रहना पडेगा। लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी योजनामे करीब-करीब केंद्रस्थान है—छोड देनेके समान है। कम-से-कम हिंदुस्तानमे तो खादी और अहिंसाका गठ-बधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगोकी माग बढेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो ।' तब लोग कहेगे, 'हमें पूनिया दो ।' हमारे आदोलनमे पूनियोकी समस्या बडी टेढी है । पूनियोके बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है । लेकिन पूनियोका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नही कर सके हैं । तब, लोगोसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो ।' इसमें तातका सवाल आयेगा । पक्की तातकी व्यापक माग एकदम पूरी नही की जा सकती । इसलिए काम रुक जायगा । इसका ज्यो-ज्यो मै विचार करता हू त्यो-त्यो मेरी निगाह उस 'दशयत्र पीजन' पर ठहरती है । पाच और पाच दस अगुलियोसे जो काम होता है, उसे 'दशयत्र' कहते है । सोमरस दस अगुलियोसे निचोडा जाता है । इसलिए वेदोमें 'दशयत्रा सोमा' का उल्लेख है । उसी तरह यह तुनाईका दशयत्र पीजन है । वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोसे बचानेवाला साबित होगा । रबर लगानेके नये तरीकेकी खोजने इस दशयत्र-पीजनमें क्राति कर दी है । उसके कारण यह काम आसान हो गया है । यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नही है । लेकिन उसका भी विचार हो सकता है । और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य नही है । उस दिन मै खरागना गया था । वहा मैने इस दशयत्र-पीजनका प्रदर्शन किया । दर्शकोमे से एकने कहा, 'जरा मै भी देखू ।' और देखते-देखते उसने पद्रह-बीस मिनिटोमे, अगर अच्छी नही तो, साधारण पूनी बना ली । इसे सीखना इतना आसान है । उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है ।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुने । मै कई तरहके आकडोपरसे इस परिणाम पर पहुचा हू कि आज दूसरोका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमे नही मिलेगी । अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है । इस विषयमे भी व्यापक प्रयोगोकी आवश्यकता है ।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलबी लोगोका सूत जहाका वही बुनवानेका प्रबध करना होगा । इसके लिए स्वावलबी व्यक्तियोके सूतमे उन्नति होना जरूरी है । सूतमे उन्नतिकी बात आते ही फिर दशयत्र-पिंजनपर ही ध्यान

जाता है। साधारण यत्र-पीजन वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तो भी लडाईके जमानेकी व्यापक योजनामे वह निपरुयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नही वनती, जितनी इस दशयत्रसे वनती है।

परतु इसमे यह मानी हुई बात है कि यह दशयत्र-पीजन या तुनाई कपाससे होनी चाहिए। आज सव जगह प्राय सारी क्रियाओमे रुई ही काममे लाई जाती है। अव रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेसे अच्छी वडी-वडी डोडीवाली कपासका सचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमे प्राय एक भी बिनौला नही बिगडेगा। किसान छाट-छाटकर अच्छी-अच्छी डोडिया बोनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ है। रुईसे शुरू करनेमे हम उन्हे गवा देते है।

खादीका अर्थ-शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नीवपर खडा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नही सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह वीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्त्ताओको समग्र दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिले सस्ती पडती है। हम हिसाव करके दिखा देते है कि वे महगी है। मिलोमे व्यवस्थापक वर्गका जवरदस्त खर्च, यत्र, यत्रोका घिसना, मालका, लाना-लेजाना, मालिकोका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तिया स्प्ष्ट ही है। लेकिन फिर भी अगर सस्ती मालूम होती है, तो, या तो उसमे कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नही कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यात्रिक रचनाकी जजीरकी एक कडी है। बडे कारखानोमें मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे सबध रखनेवाले दूसरे भी फुटकर उद्योग कराये जाते है। कारखाना उन उद्योगोके लिए नही चलता। इसलिए उन्हे गौण पैदावार कहते है। इन गौण उद्योगोंसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब

मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-शृंखलाकी कडी है।

मिलोके साथ-साथ रेल आई। शातिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियोको भी उनसे लाभ होता है। लोगोको लवे सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-सबध भी दूर-दूरके स्थानोमे होने लगते है और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोके विषयमे सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजे मिलकी मददके लिए उपस्थित है। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह वहुत महगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असबद्ध विचार नही किया जा सकता। किसी सुदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगे, तो क्या होगा ? कटी हुई नाक खूबसूरत थोडे ही लगेगी ? उनमे तो आरपार छेद दिखाई देगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमे सुदर न होते हुए भी, सव मिलकर शरीरको सुदर वनाते है। जव हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अग मानेगे, तव खादी-जीवन मिल-जीवनकी अपेक्षा कही सस्ता सावित होगा।

खादीमे लाने-लेजानेका सवाल ही नही है। वह तो जहाकी वही होती है। घरकी घरहीमे व्यवथित रूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोका काम नही रह जाता। कपडेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल वोई ही नही जायगी, इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोमे रहेगा। चुनी हुई डोडिया घरपर ही ओटी जायगी, जिससे वोनेके लिए वढिया विनौले मिलेंगे और खेती विशेष सपन्न और प्रफुल्लित होगी। वचे हुए विनौले वेचने नही पडेगे। वे सीधे गायको मिलेगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और वैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलवनके लिए आवश्यक डोडिया सलाई-पटरी या उसीकी विशेषताए रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। वह ताती साफ ई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दत्तयत्रसे भलीभाति धुनी जायगी और

सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमें सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपडा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अशमे कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस सबमे तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड दीजिए और देखिए कि वह सस्ती पडती है कि महगी। आप पायगे कि वह बिल्कुल महगी नही पडती। जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आखोमें समा जायगा, तो खादीकार्यका आरभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमे कितनी भारी भल होती है, यह भी समझमे आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सागोपाग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतत्र विषय भी है। पाच-छ साल पहले मै रेलमे अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आखे कमजोर है, उसमे फिर गाडीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्भलकर कातनेपर भी थोडा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मै अपने सिद्धातके अनुसार उसे फिर जोड लेता था। मेरी बगलमे एक बैठे थे। बी० एस-सी० पास थे। बडे ध्यानसे ये सारी बाते निहार रहे थे। थोडी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हू।" "पूछिए", मैने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारोको जोडनेमे इतना वक्त खोते है, इससे उनको वैसे ही फेक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नही होगा।" मैने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आशिक अथवा एकागी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेंसे एकागी अर्थशास्त्रको छोडकर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैने उनसे पूछा, "आप कहते है कि थोडा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नही। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितने फीसदी आप माफ फरमायेगे?" उन्होने कहा, "पाच प्रतिशत तक माफ कर देनेमे हर्ज नही है।" तब मैने कहा, "पाच प्रतिशत, जोकि जुड सकता है, फेक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह सौ एकड कपास खेतीमेसे बैठे-बैठे पाच एकडकी उपज यो ही फूक देता है। तातके सौ कारखानोमसे पाच कारखानोको बेकार कर

देता है। कातनेवालोके लिए बनाई गई सौ इमारतोमेंसे पाच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोमेंसे पाच फाड देता है।" इत्यादि-इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पाच-प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोको वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नही है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोडकर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते है, क्योकि जूठन छोडनेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मा तक, सबकी मेहनतपर फानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोडनेसे माका नाराज होना काफी नही है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक घौल जमाये।

इसीलिए हरचीज सामग्रयकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्गीतामे ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असशय समग्रम्" ये विशेषण लगाये गए है। हमारे खादीके आदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढायगे तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।

अप्रैल, १९४२

: ३३ :

उद्योगमें ज्ञान-दृष्टि

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमें सबसे बडी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नही होगा। यरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते है। हिंदुस्तानमे खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहा फी आदमी सवा एकड जमीन है। इसके विपरीत फ्रासमें, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढे तीन एकड जमीन है। इसपरसे

मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत इतनी बुरी है । इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है, और कुछ नही होता । अमेरिका (सयुक्तराज्य) ससारका सबसे सघन देश है । उसमें खेती और उद्योग दोनो बहुत बडे परिमाणमे चलते हैं । वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड रुपये खर्च कर रहा है । हमारे देशकी जनसख्या चालीस करोड है । इतने लोगोको हररोज भोजन देनेके लिए, यहाके हिसाब से प्रतिदिन पाच करोड रुपया खर्च लगेगा । अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज इतना खर्च करता है कि उसमे हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है । हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये हैं । इसलिए हिंदुस्तानको कृषि-प्रधान कहना पडता है । अब जरा इग्लैंडकी तरफ नजर डालिए । वहा भी खेतीकी आमदनी, यहाकी ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पाचसौ बारह रुपये । इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहा है । यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहाके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभीको उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए । उसके लिए उन्हे विज्ञान सीखना चाहिए ।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए । वहा जो आदमी काम करता है, उसे किस खाद्य-पदार्थमे कितना उष्णाक, कितना ओज, कितना स्नेह, है आदि सारी बातोकी जानकारी होनी चाहिए । उसमें यह हिसाब करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्यको किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी ।

(आ) शौचको तो सभी जानते हैं । लेकिन स्कूलवालोका काम इतनेसे नही चलेगा । 'मैलेका क्या उपयोग होता है ? सूर्यकी किरणोका उसपर क्या असर होता है । मैला अगर खुला पडा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौन-सी बीमारिया पैदा होती हैं ? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय तो उसकी उर्वरता कितनी बढती है ?'—आदि सारी बातोका शास्त्रीय ज्ञान हमें हासिल करना चाहिए ।

(इ) कोई लडका बीमार हो जाता है । वह क्यो बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्तमे थोडे ही आई है ! तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया

है । अतिथिकी तरह उसका खयाल रखना चाहिए । वह क्यो आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए । उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए । जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए । इसमे शिक्षणकी बात है । 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये'। यह दूसरेके साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नही होना चाहिए ।

(ई) तुम यहा सूत कातते हो, खादो भी बना लेते हो । तुम्हे बधाई है। लेकिन खादी-क्रियाके बारेमे शास्त्रीय प्रश्नोके जवाब यदि तुम न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखानेमे फर्क ही क्या रहा ? लेकिन मै तो अपने कारखानेसे भी इस ज्ञानकी आशा रखूगा ।

मुझसे कहा गया है कि यहाके लडके अग्रेजी वगैराकी परीक्षामे पास होते ह, दूसरे विद्यालयोके लडकोसे किसी तरह कम नही है, आदि-आदि । लेकिन लडके पास होते है, इसमें कौन-सी बडी बात है । हमारे लडके नालायक थोडे ही है ? जरा विलायतके लडकोको इतिहास और भूगोल मराठीमे सिखाकर देखिए तो ? देखे, कितने पास होते है ! कई साल पहले बडौदेमें एक साहब आया था । उसने गीताका पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था । यो उसने अच्छा भाषण दिया, परतु वह सस्कृतके वचनोके उच्चारण ठीक नही कर सका । उसने कहा—

'कुरु कर्मैव टस्माद् ट्म्'

(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

बीस-बीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है ! हमारे यहा सैकडो आदमी उनकी भाषामें खब बोल लेते है । लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है । हजारो वर्षोसे यहा विद्याकी उपासना होती आई है । यह कोई यहाके पाठकोका गुण नही है । इसलिए हमे अग्रेजी भाषाके ज्ञानसे सतोष नही मानना चाहिए । हमें आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, यत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए । शास्त्रो और विज्ञानोकी इस तालिकाको देखकर आप घबराइए नही । आप उन्हे उद्योगके साथ बडी आसानीसे सीख सकेंगे ।

दो विद्याए सीखना आवश्यक है एक हमारे आसपासकी चीजोकी

परखनेकी शक्ति, अर्थात् विज्ञान। और दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक सयम करनेकी शक्ति, अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीचमें निमित्तमात्र भाषाकी जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमे कुछ भी न लिखू, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुचा देगा। भाषा विद्याका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नही है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूगा? मैं बढईके पास जाकर उसे सुधरवा लूगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया, तो मुझे रोते नही बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माकी अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी। मैं भाषाका पर्चा निकालनेकी झझटमे नही पडूगा। लडकोकी बोलचालसे ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भाप जाऊगा।

विद्यार्थी भोजन करते है और दूसरे लोग भी भोजन करते है, लेकिन दोनोके भोजन करनेमे फर्क है। विद्यार्थियोका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है। मान लीजिए कि सेरमें आठ तोले चोकर निकला। यानी दस-प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पडोसीके यहा जाकर वहाका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटेमेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस-प्रतिशत चोकर निकलनेमे क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेटमे जाय, तो नुकसान क्यो होगा?—आदि प्रश्न उसके मनमे उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा तो, जैसा कि गीतामें कहा है, उसका हरेक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरहका बुखार नही आयगा। जहा हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है, वह पाठशाला है और जहा वही ज्ञान कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञान-दृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोडा खर्च तो होगा। लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमे जो चरखा

होगा वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे चरखेसे काम नही चलेगा। स्कूलमे काम चाहे थोडा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह ग्रादर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेगे, वे भी तौल लिए जायगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले, तब ह्वेरममेसे इतने क्यो, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोके वजनमे इतना फर्क क्यो? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से है। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नही खरीदा जायगा। स्कूलमे ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढगमे किया जाय, तो वह कितना मनोरजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा। अकबर किस सनमे मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यो सवार हुआ? मैं इतिहास रटनेको नही पैदा हुआ हू। मैं तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हू।

शिक्षककी दृष्टिसे हरेक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिए। वह बहुत बडा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है "प्रभाते मलदर्शनम्' (सवेरे मैलेका दर्शन करो)। सवेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्यकी स्थितिका पता चलता है। मैलेमे अगर मूगफलीके टुकडे हो, तो वे पेटपर पिछले दिन किए हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहारमे फर्क कर लेगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईमे रहिए, आखिर मैला तो गदा ही रहेगा। सवेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मा जाडोमे जिस तरह बच्चोको कपडेमे ढकती है, उसका कोई भी अग खुला नही रहने देती, उसी तरह हम भी बडी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढायगा।

इसी तरह पाठशालामे प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

लडका बैठेगा, तो सीधा बैठेगा । अगर मकानका मुख्य खभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खडा रह सकेगा । नही । उसी तरह हमें भी अपने मेरु-दडको हमेशा सीधा रखना चाहिए । पाठशालामे यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी । उसका दु ख दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी ।

स्कूलमे होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए । इसके लिए स्कूलोको सजाना होगा । अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होगे । श्रीरामदास स्वामीने कहा है, 'देवताका वैभव बढाओ ।' लोगोको अपने घर सजानेके बदले शालाए सजानेका शौक होना चाहिए । उन्हें शालाकी आवश्यक चीजे उपलब्ध करा देनी चाहिए । लेकिन इतना ही बस नही है । एकाध दानवीर मिल जाता हैं और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी ।' लेकिन अपने लडकोको किस स्कूलमे भेजता है ?—सरकारी स्कूलमे । सो क्यो ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओको दानके योग्य मानते है, तो उन्हे सब तरहसे सपन्न और सुशोभित करके अपने लडकोको वही क्यो नही भेजते ?

लडके राष्ट्रके धन है । लेकिन उनके भोजनमे न दूध है, न घी ! फी लडकेका मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नही सकते, यह तो माना । लेकिन फिर भी इतना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए । पिछले दिनोमे यह शिकायत थी कि जेलमे कैदियोको उचित खुराक नही मिलती, दूध नही मिलता । गाधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है । उनके निर्णयके अनुसार हरेक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए और सरकार अगर कैदियोको रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए । लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोमे ही इस नियमपर अमल नही करते, तो सरकारसे आशा करना कहातक शोभा देगा ? लडकोको दूध मिलना ही चाहिए । उन्हे अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए, वरना उनमें तेज नही पैदा होगा ।

फरवरी, १९४२

: ३४ :

गो-सेवाका रहस्य

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढाकर ऋषियोने हममे अनुचित पूजाके भाव पैदा किये है। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नही है। वस्तु-स्थिति ऐसी नही है। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टिसे विचार करते है, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोने भी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करे। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराए रोज पैदा होती हो। आप समझ सकते है कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेगे कि उनकी मशा क्या थी और गायोसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नही मिलता, ऐसी शिकायतें आती है। वैदिक ऋषियोने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोसे ज्यो-त्यो मिल सकता है, परतु घीके लिए तो भैसकी ही शरण लेनी पडेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नही मानते। वे कहते है—

यूयं गवो मेदयथाः कृश चित्।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो।" यहा 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते है चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते है। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामे होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमे

घीकी मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढाना हमारा काम है। वह कसर गायमे नही, बल्कि हमारी कोशिशमे है।

उसकी पुष्टिमे उन्होने गायका वर्णन यो किया है—

अश्रीर चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझले कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोने पढाया है, उसके विकास की दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित पूजाभावकी नही, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिता-की है।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नही है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका यह भाव है कि उपयोगी जानवरको हमे अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते है, जैसाकि हम अपने बाल-बच्चोके विषयमें करते है। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य सबध है। अब मै जरा और आगे बढ गा। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नही कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमे नही करना चाहिए। गो-सेवा-सघके नाममे 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है। यानी हम बगैर सेवाके लाभ नही उठायगे। यह आज भी होता है। हम ढोरोकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही है, लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नही करते, क्योकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नही है, विशेषज्ञोसे इस काममें हम सहायता जरूर लेंगे। लेकिन हमे सब काम उनपर नही छोडना चाहिए। हमें गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उसमेसे गो-सेवाका थोडा-बहुत शास्त्र हमारे साथ आ जायगा।

पवनारमे हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने दो-चार गाये पाली है। बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पडा। शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गाय ने दूध नही दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गाय को क्या हो गया है?" जवाब मिला, "कुछ तो नही। पता नही, दूध क्यो नही देती? बछडा भी तो बधा हुआ

था। इसलिए वह भी दूध नही पी सका होगा।" निदान नामदेवने पूछा, "किसीने उसे मारा-पीटा तो नही ?" एक भाईने कहा, "हा, मारा तो था।" नामदेवने कहा, "वस, तो वह इसीलिए दूध नही देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुचा, उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तव गाय कुछ देरके वाद दूध देनेके लिए तैयार होगई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमे समझना चाहिए कि जव हम नामदेवकी तरह सेवा करेगे, तो उसीमेंसे गो-सेवाका रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवाका शास्त्र वनेगा।

कालिदासने, जो कि हिंदू सस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवाका कितना सुदर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममे रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते है, क्योकि आश्रममें कोई विना सेवाके रह ही नही सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हा, तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र रघुवशमें एक श्लोकमें यो खीचा है—

स्थितिः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

शरीरकी छायाकी नाई राजा गायका अनुचर वन गया था। जव वह गाय खडी होती थी, तव वह भी खडा हो जाता था। जव वह चलती तो वह भी चलता, वह वैठ जाती, तव वह वैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता, गायको खिलाये-पिलाये विना खुद नही खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शव्दका दोहन करके मैने यह दूध आपके सामने रख दिया है। एक तो हम विना उपयोगके किसीकी सेवा नही कर सकते, और दूसरे सेवा किये विना यदि हम उपयोग करेगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह हरगिज नही करना है।

अव एक वात और। गाय और भैसके विपयमे वहुत-कुछ कहा गया है।

दोनों मनुष्यको दूध देनेवाले जानवर है । दोनोंमें कोई मौलिक विरोध तो नही होना चाहिए । फिर भी, हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते है तो उसका तत्व हम लोगोको जान लेना चाहिए । हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है । और यह तो सब जानते ही है कि हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है । बैल तो हमे गायके द्वारा ही मिलता है । यही गायकी विशेषता है । उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढा सकते है, जरूर बढायंगे । लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते है । बिना बैलके हमारी खेती नही होती । इसलिए हमे गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-सभाल करनी चाहिए । ऐसा अगर हम नही करते, तो हिंदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते है । जब हम इस दृष्टिसे सोचते है, तो भैसका मामला सुलझ जाता है और यह सहज ही समझमें आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है ।

मुझे याद आता है, एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रातमें अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे, उसका हाल सुनाया था । उन्होने कहा, सबसे पहले भैसा मरता है, क्योकि हम भैसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते है । वधके बाजार मे भैसें ऐसी अवस्थामे लाई जाती है जबकि वे एक-दो घटोमें ही ब्यानेको होती है । हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरत खरीद ले । एक बार एक आदमी ऐसी एक भैस बाजारको ला रहा था । उसी समय मनोहरजीने, जोकि उन दिनो येलीकेली मे महारोगीसेवा-मडल द्वारा महारोगियोकी सेवा करते थे, उसको देखा । रास्तेमें ही वह भैस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया ! लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बडी झुझलाहट हुई ! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा ? यह तो एक बला आ गई ! मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनद होता है, लेकिन भैसके पुत्रको वह सहन नही करता । उसने उस पुत्रको वही छोड दिया और भैस को लेजाकर वधके बाजारमे बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैस-पुत्र वही पडा रहा । मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे । फिक्रमें पडे कि अब इसका क्या किया जावे ? जिस खेत मे वह रहते थे उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको सभालोगे ?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आगई ? मै उसको कैसे रखू ? आखिर उसका उपयोग हो

क्या है ? मै उसकी परवरिश क्यो करू ? उसको आखिर दशहरेके दिन कत्ल होनेके लिए ही वेचना होगा । इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नही है ।"

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी । तो, सबसे पहले वेचारा भैंसा मरता है । फिर उसके वाद गाय मरती है । उसके पश्चात भैंस मरती है और सबसे आखिरमे वैल । वैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिश की जाती है । लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते है और उसे जिलानेकी कोशिश करते है । यह तो हुई उपयोगिताकी वात । वैल इनसव जानवरोमे सबसे ज्यादा उपयोगी तो सावित हुआ । लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके विना अच्छे वैल कहासे आयगे ? हिंदुस्तानका आदमी वैल तो चाहता है, लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता । वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वाग रचता है । दूधके लिए भैंसकी कद्र करता है । भैंस और गाय दोनोका पालन हिंदुस्तानके लिए आज वडी मुश्किल वात हो गई है ।

लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामे गायकी ही सेवाको महत्व देना पडता है । वापूने कहा कि अगर हम गायको वचा लेंगे, तो भैंसका भी मामला तय हो जायगा । इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नही हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नही है ।

गाय और भैंसको एक-दूसरेका विरोधी माननेकी जरूरत नही है । लेकिन हमे तो गो-सेवामे आरभ कर देना है और वही हो भी सकता है । हमे समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नही करते । आज हम जो भैंसकी सेवा करते है, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है । हम उसमे केवल अपना स्वार्थ देखते है । हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते है । जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नही कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमे नही करना है ।

जैसाकि मैं वता चुका हू, आज भैंसकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है । वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोमे भैंसका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणत हिंदुस्तानकी गरम हवामे भैंसा ज्यादा उपयोगी नही हो सकता, भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे है । नागपुर-वरारमें

गमियोमे गर्मीका मान एकसौ पद्रह अशतक चला जाता है। खासकर उन दिनोमे भैसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहा तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है, क्योकि भैस पूरी तरह जमीनका जानवर नही है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरमें भगवान्‌ने चरबीकी अधिकता रखी है, क्योकि ठड और पानीसे बचनेके लिए उसको उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमे स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह सूर्यके तापसे जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नही होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोमे उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते है, ताकि कुछ ठडक रहे। वे जानते है कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोमे जाकर आप लोगोसे पूछगे कि आपके गावमें कितनी भैस और कितने पाडे है, तो वे कहगे कि भैसे है करीब सौ-डेढसौ और पाडे है कुल दस, या बहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछेगे कि इन स्त्री-पुरुषो या नर-मादाओकी सख्यामे इतनी विषमता क्यो है? तो हमारे देहातोके लोग जवाब देगे, "क्या करे? भगवान्‌की करतूत ही ऐसी है कि भैसा ज्यादा दिन जीता ही नही।" आखिर यहा भी भगवान्‌की करतूत आ ही गई! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैसका उपयोग करते है कि भैसे जिदा ही नही रहते और नही रहेगे। मतलब, हम भैसकी सेवा करते है, ऐसी बात नही है। उसमे हम सिर्फ भैसका उपयोग ही करते है। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नही करते। इसलिए आपकी समझमे आ गया होगा कि सेवा-सघकी स्थापना हम किसलिए करते है।

चद लोग पूछते है, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार-श्रेणी तो ठीक है, मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नही हो सकता? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यो न करे?"

उसके जवाबमे मै यह पूछता हू कि ट्रैक्टर चलायगे तो बैलका क्या

होगा ? जवाव मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जाय। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोका मास वरावर खाते है। उसी तरह बैलका मास भी खा सकते है। यह रास्ता क्यो न लिया जाय ?" इस तरह जब बैलोके खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी टैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलोको अगर हिंदू नही खायगे, तो गैर-हिंदू खाय। आज भी हिंदू गायको वेचते ही है। खुद तो कसाईसे पैसा लेते है और गो-हत्याका पाप उसे दे देते है। ऐसी सुदर आर्थिक व्यवस्था उन्होने अपने लिए बना ली है ? वह कहता है कि अगर मै कसाई को गाय मुफ्तमे देता, तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मै तो उसे बेच देता हू—इसलिए पापका हिस्सेदार नही बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढायगे, तो सब ठीक हो जायगा। हम भैससे दूध लेगे, बैलोको खा जायगे और यत्रोके द्वारा खेती करेगे—इस तरह तीनोका सवाल हल हो जायगा।

इसके जवाबमें मै आप लोगोको यह समझाना चाहता हू कि बैलोको क्यो नही खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ पूर्वाग्रह-दूषित (प्रेज्युडिस्ट) लोग बैलको भले ही न खाय, लेकिन बाकीके तो खायगे और हम यत्रके द्वारा मजेमे खेती करेगे। इस विषयमे हमारे विचार साफ होने चाहिए। मै मानता हू कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है, उस हालतमे अगर हम मासका प्रचार करेगे और यत्रसे खेती करेगे, तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नही रह सकेगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेगे, तो कितने प्राणियोकी जरूरत होगी ? उतने बैलोकी पैदाइश हम यही नही कर सकेगे। सिर्फ मास, या गोश्त खानेका ढोग तो नही करना है। मास अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते है कि लोग खा सकें, इतने बैल पैदा नही हो सकेगे। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो ट्रैक्टरका खर्च बढेगा और गोश्त भी पूरा नही पडेगा और आखिरमें गाय और बैलका वश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके अर्जेण्टा-

इनके वदरगाह व्युनास-आयरिसमे रोज करीव-करीव दस हजार वैल कटते है और वहासे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोमे भेजे जाते है। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नही रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगोको गोश्त मिलना कठिन हो जायगा। इसलिए यूरोपके डाक्टरोने अब यह शोध की है और वहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—सभव है उसमें मतभेद होगा, क्योकि डाक्टरोमे मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्तके मुकावलेमे दूधमे गुण अधिक है। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यो और हकीमोने वहुत पहले की है। मै मानता हू कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मासाहार करते है, उसी तरह हिंदुस्तान-के लोग भी पुराने जमानेमे मासाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुचे कि अगर हम मासके वजाय दूधका व्यवहार करेगे, तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नही कर सकता और हमे यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसख्या बढती जायगी, वैसे-वैसे दुनिया भरमें गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है?' हा, है तो सही। 'फिर दूधको पवित्र क्यो माना गया?' उसका जवाव अभी मैंने जो कुछ कहा उसीमें मिल सकता है। जैसाकि अभी मैने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमे मासाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाय, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियो और वैद्योने जव लोगोके सामने गायके दूधकी महिमा रखी, तवसे दूध ऐसी चीज होगई जिसने लोगोको मासाहारसे छडाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सवूत आपको वेदोमें मिल सकते है। ऋग्वेदमे यह वचन पाया जाता है।

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

इस मत्रका अर्थ मैने इस तरह किया है—'भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते है। लेकिन 'दुरेवा अमति'का यानी दुर्भाग्यमे ले जानेवाली वुद्धिका, अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अवुद्धिका, गायके दूधके द्वारा

ही हम निवारण कर सकते हैं।' सब तरहकी अवुद्धि मिटानेके लिए और उसमेंसे जहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुल मिलाकर यत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है।

फरवरी, १९४२

: ३५ :

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते है (१) भिक्षा, (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण भरको कम-से-कम लेना, और यह भी विवश होकर और उपकृत भावसे।

पेशा, अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माग लेना।

चोरी, अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्ही-सरीखे वे 'इतजामकार' पुलिस, सैनिक हाकिम, वगैरा सरकारी साथी-सहायक, इतजामके बाहरके वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्गमे आते है।

मातृभूमिपर मेहनत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताए पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमे जानेके अभिलाषी हैं, जानेवाले नही। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हुए

भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज उनमेंसे बहुतोंको उचित पारिश्रमिक नही मिलता और वे निस्सदेह तीसरे वर्गमे दाखिल हो जाते हैं ।

पहले वर्गमे दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोडे, सच्ची लगनके साधु पुरुष हैं । बहुत ही थोडे है, पर है, और उन्हीके बलपर दुनिया टिकी है । वे थोडे है, पर उनका बल अद्भुत है ।

"भिक्षावृत्तिका लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए ।" जब समर्थ यह कहते है तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्गको बढाना है ।

इसीको गीतामे 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है, और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है ।

आज हिंदुस्तानमे बावन लाख 'भीख मागनेवाले' है । समर्थके समयमे भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यो जान पडी ?

इसका जवाब भिक्षाकी कल्पनामे है । बावन लाखकी भिक्षाका जो अर्थ है, वह तो चोरीका ही एक प्रकार है ।

भिक्षाका मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना । इतना भी न लिया होता, पर शरीर-निर्वाह नही होता, इसलिए उतने भरके लिए लेना पडता है, पर हक मानकर नही । समाजका मुझपर यह उपकार है, इस भावनासे । भिक्षामे परावलबन नही है, ईश्वरावलवन है, समाजकी सद्भावनापर श्रद्धा है, यथालाभ सतोप है, कर्त्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है ।

लोक-सेवाके शरीर-रक्षणको एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए । विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे, हिसाव रखकर, इसी कार्यके लिए वह करता है । मैं लोक-सेवक हू, इसलिए मेरा शरीरधारण कार्य भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है । उस रकमका उपयोग मुझे उसी काममे करना चाहिए, उचित रूपसे करना चाहिए, उसका हिसाव रखना चाहिए, और वह हिसाव लोगोंको जाचके लिए खुला रहना चाहिए । अर्थात् सब तरहसे एक पच

जैसी सचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावनासे मुझे अपने शरीरकी सचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकोको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करे, सामाजिक पैसेका हिसाव ठीक रखेगे, लोगोको दिखायेगे, उनसे आलोचना चाहेगे, उन्हे होगा तो उत्तर देगे, नही तो क्षमा मागेगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाव ठीक रखनेको हम वधे नही है, और दिखानेकी तो वात ही नही। यदि सचाईसे समाजसेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' वन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा', भिक्षावृत्ति नही।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा ? जैसे खादीके कामके लिए खादीका ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जव तेरा नही है, तव तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ ? दोनो काम सामाजिक ही है।

एक खादी-प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हे कितनेकी जरूरत है ?"

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतनेकी जरूरत क्यो है ?"

"दो-तीन गरीव विद्यार्थियोको मदद देता हू।"

हम यह मान लेते है कि गरीव विद्यार्थियोको इस तरह मदद देना अनुचित नही है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हे पैसे दिये गये तो उसमेंसे राष्ट्रीय शिक्षणके काममे लाओगे क्या ?"

"ऐसा तो नही किया जा सकता।"

"तव तुम्हारे शरीरका पोपण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकममेंसे गरीव विद्यार्थियोको मदद देनेमे, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करनेका क्या मतलव ?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्वपूर्ण मुद्दा है। शिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नही है। दान हो या भोग, दोनोका कर्त्ता 'मै' ही हू। और भिक्षामें 'मै' को जगह ही नही है। इसीसे दोनोका नही। न भोगमे फसो, न त्यागमें पडो—यह भिक्षावृत्तिका सूत्र है। भिक्षावृत्तिके मानी है, 'घर

बडा करना', बडी जिम्मेदारी सिरपर लेना । भिक्षा गैरजिम्मेदारी नही है ।

भिक्षा मागनेके मानी है, 'मागना छोड देना ।' बाइबिलमे कहा है, 'मागो तो मिल जायगा ।' उसका मतलब है भगवानसे मागो तो मिलेगा । पर समाजसे 'मागो मत, तो मिलेगा ।'

'भिक्षा मागना' ये शब्द विसवादी है । कारण, भिक्षाके मानी ही है न मागना । 'भिक्षा मागना' शब्द पुनरुक्त है, क्योकि भिक्षा ही स्वत सिद्ध मागना है । भिक्षा मागनी नही पडती । कर्त्तव्यकी झोलीमे अधिकार पडे ही है ।

जुलाई, १९४०

: ३६ :

युवकोंसे

तुम्हारे खेल देखकर आनद हुआ । देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोके हाथमे है । तुमने जो खेल दिखाये है, वे किसलिए है ? शक्ति प्राप्त करनेके लिए है । शक्ति किसलिए । गरीब लोगोकी रक्षा के लिए । इसलिए कि गरीबोके लिए हम उपयोगी हो सके । शरीर घिसानेके लिए तगडा बनाना है । चाकूमे धार किसलिए लगाई जाती है ? इसलिए नही कि वह पडा-पडा जग खा जाय, बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके । शरीरमे धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजबूत बनाना है । उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चदनके समान घिस सके । बल सेवाके लिए है ।

गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है, 'बल बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम ।' (बलवानोमे मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हू ।) शब्दोपर खूब ध्यान दो । सिर्फ 'बल' नही कहा । 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल' । इस वैराग्य-युक्त निष्काम बलकी ही मूर्त्ति हम व्यायामशालाओमें रखा करते है ।

वह कौन-सी मूर्त्ति है—हनुमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति ।

हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम वलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्रोत गाये। रावण भी महा वलवान था। लेकिन रावणमे वैराग्य नही था। रावणका वल भोगनेके लिए था, दूसरोको सतानेके लिए था। रावण पहाड उठाता था, वज्र तोड डालता था, दस आदमियोका वल मानो उस अकेलेमे था। इसलिए उसके दस मुह और वीस हाथ दिखाये गये। इतना वलवान होते हुए भी उसका सारा वल धूलमे मिल गया। हनुमानका वल अजरामर होगया। वाल्मीकिने वलकी ये दो मूर्तिया, ये दो चित्र, उपस्थित किये है। रावणके वलमे भोग-वासना थी। रावण वलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान वलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ वल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ वल अपने और ससारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे वानर वैठे थे। लकामे कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते वैठे थे। जामवत हनुमानके पास जाकर वोला, "हनुमान, तुम जाओगे?" हनुमान वोला, "आपका आशीर्वाद हो, तो जाऊगा।"

वह अकेला वानर किस शक्ति के वूते उन वलवान राक्षसोमे निर्भय होकर चला गया? हनुमानसे जव यह सवाल पूछा तव उसने क्या यह जवाव दिया कि मै अपने वाहुवलके जोरपर आया हू? हनुमान वोला, "मै रामके भरोसे यहा आया हू। मेरे वाजुओमें जोर है या नही, यह मुझे नही मालूम, परंतु रामका वल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईसे सोचो, तो वाहुवलका भी क्या अर्थ है? वाहुवलके मानी है शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए ये हाथ है। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् है। पशुके हाथ नही है। भुजाओके वलके प्रयोगसे हम अन्नका निर्माण करे, सेवा करे। हमारी कलाइयोमे यह जो सेवा करनेकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनुमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस वलकी आत्मामे श्रद्धा न हो, राममे श्रद्धा न हो, वह वल निकम्मा होता है। जिसने रामका वल पहचाना लिया, वह कलिकालसे भी नही

डरा करता । शरीरबल रामके लिए है । वह सेवाके लिए है, भोगके लिए नही है ।

दूसरी बात यह है भुजाओमे जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है । वह केवल बल निराधार है । वह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए । निर्बलोमे भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है । उपनिषद् कह रहे है कि जिसमे श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोको कपा देगा । इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए ।

हनुमानमे पशुबल नही था । हनुमानका जो स्तुतिश्लोक है, उसमे दूसरे सारे बलोका वर्णन है, परतु शरीर-बलका उल्लेख कही नही है । यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्,
जितेन्द्रिय बुद्धिमतांवरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यं,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये ।।

मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेद्रिय, बुद्धिमानोंमें वरिष्ठ, पवनसुत, वानरो सेनापति, रामदूतकी मै शरण जाता हू ।

हनुमान मन और पवनके समान वेगवान थे । वह जितेद्रिय थे, वह अत्यत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोका वर्णन है । हनुमान बलका देवता है । लेकिन इस स्तुतिमे बलका जिक्रतक नही । क्या यह आश्चर्यकी बात नही है ? परतु ये गुण ही वास्तविक बल है । ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति है ।

मनुष्यमे वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनदसे छलाग मारनी चाहिए । सिंहगढ फतह करनेका सदेशा आते ही तानाजी चल पडा । नही तो मनमें सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नही होता, वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है, ऐसा शरीर किस कामका ? ज्ञानेश्वरने बडा सुदर वर्णन किया है । सेवक कैसा चाहिए । ज्ञानेश्वर कहते है—'आग मनापुढे वे दौडा'—शरीर मनके आगे-आगे दौडता है । कोई बात मनमे आनेसे पहले ही शरीर दौडने लग जाता है ।

शरीरमे इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेद्रियत्व चाहिए, इद्रियोपर काबू चाहिए। सयमके बिना यह बल नही मिल सकता। वेग और सयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नही है। इसके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहा राम कहे, वहा जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तानके करोडो देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक है। उन्हे तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, सयमी, सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैने इस व्यायामशालाके अखाडेमे कुश्तिया देखी। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमे हुई। मैने उसमे समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आइदा व्यवहार करेगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो, तुम जो खेल खेले, जो कुश्तिया लडे, उनमेसे कल्याण ही होगा।

खेलमें हम समभाव सीखते है? शिस्त (अनुशासन), व्यवस्थाका महत्त्व सीखते हैं। इन खेलोके अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालिया ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीनमें घुस रही हैं,—कैसा सुदर दृश्य दिखेगा। इस खेलमें आदर्श व्यायाम होगा। उसमें बुद्धिके प्रयोगकी भी गुजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहाके खेलोसे तुम्हारे अदर शक्ति और प्रेम दोनो पैदा हो। सब तरहके, सब जातियोके लडके एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेम होता है। ये सस्मरण अगले जीवनमे उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लडे, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया आदि सस्मरणोसे आगे चलकर तुम एकत्र होगे। सघशक्ति और सहकार्य बढेगा।

तुम गणवेष (वर्दिया) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढाना ही है। परतु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे

वे भी मुर्दार चमडेके हो, हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए । बूद-बूदसे ही घडा भरता है । राष्ट्रमे सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये हैं । सपत्ति लगातार बाहर जा रही है । इसकी तरफ ध्यान दो ।

तुमने कसरत की । लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा ? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए । गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके, मारी हुई गायके नही—चमडेसे बनी हुई चीज ही बरतनी चाहिए । रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए । खादी खरीदकर हम उनकी थोडी-सी मदद करेगे, तो वे जीयेगे और हमे रोटी मिलेगी । तुम्हे अगर घरपर रोटी नही मिलती, तो यहा आकर कितनी उछल-कूद करते ? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहा कूदे-फादे । अन्न कूदने-फादनेकी शक्ति देता है । इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्न वाव बलाद् भय (अन्न बलसे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमे अगर अन्न न होगा, तो बल कहासे आयेगा ? पहले अन्नका इतजाम करोगे, तब कही अखाडे चलेगे । पहले अन्नका प्रबध होगा तब ज्ञानदानका प्रबध हो सकेगा ।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था । उसे एक भिखारी मिला । वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा । उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नही दिया । उसमे उसका मन ही नही लगता था । प्रचारक नाराज हुआ । बुद्धके पास जाकर बोला, "वहा एक भिखारी बैठा है । मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नही ।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया । भगवान् बुद्धने उसकी दशा देखी । उन्होने ताड लिया कि वह भिखारी तीन-चार दिनोंसे भूखा है । उन्होने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ ।" प्रचारक ने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नही दिया ।" भगवान् बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था । आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी । वह उसे पहले देना चाहिए । अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा ।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है । आज राष्ट्रमे अन्न ही नही है । रामदासके जमानेमे अन्न भरपूर था । आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी

सपत्तिका सोता सूखा नही था । इसलिए उन्होने प्राणका, वलका, उपासनाका, उपदेश दिया । आज देहातोमे सिर्फ अखाडे खोल देनेसे काम नही चलेगा ।

जव राष्ट्रमे अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका सवर्धन होगा। बलवान तरुणोको राष्ट्रमे अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए । हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' वनाना है । यह जव वनाओगे तब बनाओगे । परतु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नही—जानवरके चमडेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमे हाथ वटाओ ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीवोके पेट मत मारो। तुम गरीवोके सरक्षणके लिए कवायदा करोगे । लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनकी रक्षा करोगे न ? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीव मरेगे । फिर सरक्षण किसका करोगे ? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मागोगे देहातियोसे ? वे तुम्हे कहासे देंगे, भैया ? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो ।

तुम्हारे गणवेप (वर्दिया) खादीके हैं, तुम्हारी सस्थामे हरिजन भी आते है, ये वाते बडी अच्छी है । लेकिन मुसलमानोको मुमानियत क्यो ? हिंदू-मुसलमानोको एकत्र होने दो । कम-से-कम मुमानियत तो न करो । उन्हें यहा लानेकी कोशिश करो । तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो । एक ही देशके हवा-पानी, अन्न-प्रकाशपर पल रहे हो । अगर हिंदू यहाके है तो मुसलमान वाहरके कैसे ? और अगर मुसलमान वाहरके हैं, तो हिंदू भी वाहरके हैं । लोकमान्य कहते है कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये । हिंदू अगर पाच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये । परतु आजकी भाषामे तो यहीके कहे जायगे । दोनो भारत-माताके ही लाल है ।

सव धर्मोके विषयमे उदार भावना रखो । जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओको पूज्य मानेगा । वह अपनी माताकी सेवा करेगा, लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नही करेगा । हरेक अपनी माके दूध-

पर पलता है। धर्म-माताके समान है। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हू। इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नही करूगा। उलटे, उस माताका भी वदन करूगा।

दिलमे यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमे यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अदर उपासना—दोनो चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलोके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भाति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रखो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर याने मन, निर्मल रहेगा। अतर-बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनुमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवाके लिए निरतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा, तो तुम बूढे ही हो। जिसके शरीरमे वेग है, वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनुमान कभी बूढे नही हो सकते। वह चिर-तरुण है। चिरजीव है।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रखो। बुद्धि साबुत रखो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमे जुट जाय।

नवंबर, १९४१

: ३७ :

गृत्समद

यह एक मत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलब गावका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानात्वा गणपति हवामहे' (हम आपका जो कि समूहोके अधिपति है, आवाहन करते है) यह सुप्रसिद्ध मत्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मडलोमे द्वितीय मडल समूचा इसीका है। इस मडलमे तैतालीस सूक्त है और मत्र-सख्या चारसौके ऊपर है। ऋग्वेद जगतका अतिप्राचीन और पहला ग्रथ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अश प्राचीनतर है। इस प्राचीनतर अशमे द्वितीय मडलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणामपर पहुचे है कि गृत्समद करीव वीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मडल सूक्तसख्या और मत्र-सख्याके लिहाजसे ऋग्वेदके करीव पच्चीसवे हिस्सेके वरावर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही, लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृपि-सशोधक और मजा हुआ वुनकर भी था। जीवनके छोटे-वडे किसी भी अगकी उपेक्षा वह सहन नही कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, "प्राये प्राये जीगीवास स्याम"—"हमे हरेक व्यवहारमे विजयी होना चाहिए।" और उसके ज्वलत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोमे उत्साहका जाग्रत वातावरण वना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें नर्मदासे गोदावरीतकका सारा भूप्रदेश जगलोसे भरा हुआ था। पाच-पच्चीस मीलोके अतरपर एकाध छोटी-सी वस्ती हुआ करती थी। शेप सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन वनमे वसी हुई गृत्समदकी एकमात्र वडी वस्ती थी। इस वस्तीने ससारका, कपासकी खेतीका, सवसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो वरार कपासका भडार वन गया है। गृत्समदके कालमे वरारमें आजकी अपेक्षा वारिशका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार

किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमे लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौतिपियम्' हो सकता है ?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यत स्त्रियोके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते है और स्त्रिया कुकडी भरने, माडी लगाने आदिमे उनकी मदद करती है। किंतु वैदिक कालमे बुनकरोका एक स्वतत्र वर्ग नही बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी अवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रिया घरका काम-काज सम्हालकर बुनती थी। 'साझको सूर्य जब अपनी किरणे समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती है'—'पुन समव्यत् वितत वयती'—इन शब्दोमे गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपडा कैसे बनाया जाय' यह महान प्रश्न खडा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकडी की तकली होती थी, उसीपर सबने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकाला, लेकिन बिल्कुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नही था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओका सागोपाग अभ्यास किया। सारा सूत दोष-सपन्न पाया। लेकिन उसमेसे जो थोडा पक्का था, उससे उसने 'ततु' बनाया। 'ततु'के माने वैदिक भाषामे धागा है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन माडी लगानेमे कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए कितने तारोको जोडना पडा इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके माडी लगानेमे टूटे हुए तारोकी सख्या चार अकोकी (हजारकी) थी। बादमे तागा करघेपर चढाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पाच तार टूटे। उन्हें जोडकर फिरसे ठोका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही

हफ्तोके बाद पहला थान बुना गया । उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला । लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोंमे बुनाईका काम बडा ही कष्टकर हो गया था । गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे । वह इतना उत्साही और ततु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म, ठोक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्मकी ब्रह्ममय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगता था तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था । ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरकी प्रार्थना की थी, 'देवा, माततुश्छेदि वयत'—बुनते वक्त ततु टूटने न दे । लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरत ही पछताता था । इसलिए उस प्रार्थनामे "धिय मे' याने 'मेरा ध्यान' मै दो शब्द मिलाकर उसे सवार लिया । "जब मै अपना ध्यान बुनता होऊ, तो उसका ततु टूटने न दे"—ऐसा उस सशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेसे सुशोभित अर्थ निकला । उसका यथार्थ इस प्रकार है—"मै जो खादी बुना करता हू, यह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य क्रिया नही है । यह तो मेरी उपासना है । वह ध्यानयोग है । बीच-बीचमे धागोके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भग होने लगता है, इसका मुझे दु ख है । इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए । लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नही हो सकती । उसके लिए सूतमें उन्नति करनी चाहिए । और वह कर लूगा । लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा, तबतक वह टूटता तो रहेगा ही । इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अतर्वृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे ।

गृत्समद अखड अतर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था । 'माह अन्यकृतेव भोजम्'—'मै दूसरोंके परिश्रमोंसे भोग कदापि प्राप्त न करू ।'—यही उसका जीवन-सूत्र था । वह लोक-सेवा-परायण था । इसलिए उसके योग-क्षेमकी चिता लोग किया करते थे । लेकिन वह अपने मनमे सदा यही चितन किया करता था कि 'लोगोसे मै जितना पाता हू, क्या उसे शतगुणित करके उन्हे लौटाता हू ? और उसमें भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अश होता है ?'

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई । गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमे आविष्कार करता रहता था । उसके समयमे पड्विधियोमेसे लोग सिर्फ जोडना और घटाना ही जानते थे । जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनदका पारावार ही नही रहा । उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाडे बनाये और फिर तो वह बासो उछलने लगा । पहाडे रटनेवाले लडकोको कही इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नही रहेगे । लेकिन गृत्स-मदने आनदके आवेशमे आकर इद्रदेवका आवाहन पहाडोंसे ही करना शुरू किया—"हे इद्र ! तू दो घोडोके, और आठ घोडोके और दस घोडोके रथमे बैठकर आ । जल्दी-से-जल्दी आ । इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दोके पहाडेके बदले दसके पहाडेसे काम ले । दस घोडोके, बीस घोडोके, तीस घोडोके और चालीस घोडोके, और सौ घोडोके रथमे बैठ-कर आ ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था । पौराणिकोने उसके इन महान् आविष्कारका लेखा किया है कि चद्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है । वैदिक मत्रोमे भी इसकी ध्वनि पाई जाती है । चद्रमामे मातृ-वृत्ति रम गई है और कलावान् तो वह है ही । इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोको पचाकर और उन्हे भावनामय सौम्य रूप देकर रूप माताके हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृतको पहुचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चद्र कर सकता है और वह उसे निरतर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है ।

सितबर, १९४१

: ३८ :

लोकमान्यके चरणोंमें

१६२० मे तिलक शरीर-रूपसे हमारे बीच नही रहे। उस समय मैं बबई गया था। चार-पाच दिन पहले ही पहुचा था, परतु डाक्टरने कहा, "अभी कोई डर नही है।" इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मै आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यत निकटके आत्मीय, सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमे कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करने-वाला कुटुबी चल बसा हो। इसमे जरा भी अत्युक्ति नही है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्यके चरणोमे अपनी यह तुच्छ श्रद्धाजलि मै अपनी गहरी श्रद्धाके कारण चढा रहा हू।

तिलकके विषयमे जब कुछ कहने लगता हू तो मुहसे शब्द निकालना कठिन हो जाता है। गदगद् हो उठता हू। साधु-सतोका नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नामसे भी होती है। मै अपने चित्तका भाव ही प्रकट नही कर सकता। उत्कट भावनाको शब्दोमे व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्तिका सचार हो जाता है। भावनाओकी प्रचड बाढ आ जाती है। वृत्ति उमडने लगती है, परतु यह बडप्पन मेरा नही है। बडप्पन गीताका है। यही हाल तिलकके नामका है। मै तुलना नही करता, क्योकि तुलनामें सदा दोष आ जाते है, परतु जिनके नामके स्मरणमे ऐसी स्फूर्ति देनेकी शक्ति है, उन्हीमेंसे तिलक भी हैं, मानो उनके स्मरणमे ही शक्ति सचित है। रामनामको ही देखिए। कितने जड जीवोका इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आदोलन, अनेक ग्रथ, इतिहास, पुराण—इनमेंसे किसी भी चीजका उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि

रामनामका हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रोका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्योका विकास हुआ और लय हुआ। किंतु रामनामकी सत्ता अवाधित-रूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजीने कहा है—"कहउ नाम वड राम तें।—हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समयके अयोध्यावासियोने और उस जमानेके नर-वानरोने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नही, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममे है, वह तेरे रूपमे नही। हे राम, तूने शवरी, जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमे तेरा वडप्पन कुछ नही, परतु तेरे नामने अनेक खलजनोका उद्धार किया, यह वेद कहते है।"

"शवरी गीव सुसेधकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नामउधारे अमित खल बेद-विदित गुनगाथ॥"

तुलसीदासजी कहते है, रामकी महिमा गानेवाले मूढ है। रामने तो वडे-वडे सेवकोका उद्धार किया। परतु नामने? नामने असख्य जड-मूढोका उद्धार किया। शवरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवोका, इन भक्तजनोका रामने उद्धार किया। कौन वडी वात हुई? परतु रामनाम तो दुर्जनोको भी उवारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है, मुझसे वडा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मै ही हू। मुझे इस विषयमें दूसरोका मत जाननेकी जरूरत नही। नामसे उद्धार होता है। जिन्होने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थमें खपाया, उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी वातोमें मनुष्य और पशु समान ही है। परतु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशुसे भी नीच वन सकता है, उसी प्रकार पराक्रमसे, पौरुषसे, वह परमात्माके निकट भी जा सकता है। मनुष्यमे ये दोनो शक्तिया है। खूब मास और अडे वगैरा खाकर, दूसरे प्राणियोका भक्षण कर वह शेरके समान हृष्ट-पुष्ट भी वन सकता है, या दूसरोके लिए अपना शरीर भी फेक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेकोका घात करके पशु वन सकता है, या अनेकोके लिए अपना वलिदान कर पवित्रनामा भी वन सकता है। पशुकी शक्ति

मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नही है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नही सकता, इसलिए चढ भी नही सकता। मनुष्य दोनो बातोमें पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगोने अपना जीवन सारे ससारके लिए अर्पण कर दिया, उनके नाममे बहुत बडी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते है, 'वशिष्ठ तर्पयामि' 'भारद्वाज तर्पयामि' 'अत्रि तर्पयामि,' इन ऋषियोके बारेमे हम क्या जानते है? क्या सात या आठसौ पन्नोमे उनकी जीवनी लिख सकते है? शायद एकाध सफा भी नही लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वशिष्ठ— यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकडो वर्षोके बाद तिलकका नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नही रहेगा, किन्तु इतिहासके आकाशमे उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हमे महापुरुषोके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्रका। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने सौ-दो-सौ किल्ले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नही समझना चाहिए कि उसी तरह किल्ले बनानेमे स्वराज्य प्राप्त होगा। किंतु जिस वृत्तिसे उन्होने अपना जीवन बिताया और लडाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमे चाहिए। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया, उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते है। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समयका रूप हमारे कामका नही है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नही, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणोका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुओने चरित्रका बोझ छोडकर नाम स्मरणपर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियोका सारा चरित्र दिमागमे रखनेकी कोशिश करे तो उसीके मारे दम घटने लगे। इसीलिए केवल गुणोका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नही।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लडकोने 'साहसी' यात्री नाम की एक पुस्तक पढी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमे लिखा है, वैसा ही हम भी करे। उस पुस्तकमें बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहा-तहासे बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तकमें लिखा था कि वे एक जगलमे गये। फिर क्या था? ये भी एक जगलमे पहुचे। पुस्तकमें लिखा था उन लडकोको जगलमे एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहासे लाये? आखिर, उनमे जो एक बुद्धिमान् लडका था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरूसे आखिरतक गलती ही की। हम उन लडकोकी नकल उतारना चाहते है। लेकिन यहा तो सबकुछ उलटा ही हो रहा है। वे लडके कोई पुस्तक पढकर थोडे ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शरूमे ही गलती हुई।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओ का अनुकरण नही कर सकते, चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणोका स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते है। लडकोके ध्यानमे वह सब-का-सब रहता भी नही है। इसके लिए उनपर फिजूल मार भी पडती है। इतिहाससे हमे सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण है, उन्हे कभी भूलना नही चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजोके गुणोका श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आजका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलकका पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातित ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नही है, वे भी उनका गुण स्मरण कर रहे है। तिलक महाराष्ट्रके मराठे थे। लेकिन पजाबके पजाबी और बगालके बगाली भी उन्हे पूज्य मानते है। हिंदुस्तान तिलकका ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सबकुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमे रहस्य है—दोहेरा रहस्य है। इस चमत्कारमे तिलकका गुण तो है ही, हमारे पूर्वजोकी कमाईका भी गुण है। जनताका एक गुण और तिलकका एक गुण—दोनोके प्रभावसे यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारतमे सभी जातियो द्वारा पूजे जाते है। दोनोके गुणकी ओर हमे ध्यान

देना चाहिए। इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आरही है। रामायणमे मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमे यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नही कि हमारे अदर राम (सत्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परतु आज राष्ट्र मे राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोडा-बहुत तेजका सचार देख पडता है, वह न दिखाई देता। गहराईसे देखें तो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो राम-लीला हो रही है, इसमें कौन-सा हिस्सा लू, किस पात्रका अभिनय करू, यह मै सोचने लगता हू। रामकी इस लीलामे मै क्या बनू? लक्ष्मण बनू? नही, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहासे लाऊ? तो क्या भरत बनू? नही, भरतकी कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्वका बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहासे लाऊ। हनुमानका तो नाम भी मानो रामका हृदय ही है। तो फिर गाठमें पुण्य नही है, इसलिए क्या रावण बनू? ऊऽऽह्न। रावण भी नही बन सकता। रावणकी उत्कटता, महत्त्वकाक्षा मेरे पास कहा है? फिर मै कौन-सा स्वाग लू? किस पात्रका अभिनय करू? क्या कोई ऐसा पात्र नही है जो मै बन सकू? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अतमे मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा, मै अहल्याका अभिनय करू। जड पत्थर बनकर बैठू। इतनेमे वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायणमे सबसे तुच्छ, जड-मूढ पात्र क्या मै ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमे क्या कोई योग्यता ही नही? अरे, रामकी यात्रामे तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरतक हजारो पत्थर थे, उनका उद्धार क्यो नही हुआ? मै कोई नालायक पत्थर नही हू। मै भी गुणी पत्थर हू।" अहल्याकी बात मुझे जच गई। परतु अहल्याके पत्थरमे गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नही। उसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोकी भी नही। अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणो-जैसे चरण, दोनोका सयोग चाहिए। न तो रामके चरणोमे दूसरे पत्थरोका ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरेके चरणोसे अहल्याका ही।

इसे मै अहल्या-राम-न्याय कहता हू। दोनोके मिलापसे काम होता है।

यही न्याय तिलकके दृष्टातपर घटित होता है। तिलकका ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मानता है। इस चमत्कारमे तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोका स्थान है। इस चमत्कारके दोनो कारण है। कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हे माननेवाली साधारण जनताका। हम उन गुणोका जरा पृथक्करण करे।

तिलकका गुण यह था कि उन्होने जो कुछ किया उसमे सारे भारतवर्षका विचार किया। तिलकके फूल बबईमे गिरे, इसलिए वहा उनके स्मारक मदिर होगे। उन्होने मराठीमे लिखा, इसलिए मराठी भाषामे उनके स्मारक होगे। लेकिन तिलकने जहा कही जो कुछ किया—चाहे जिस भाषामे क्यो न किया हो, वह सब भारतवर्षके लिए किया। उन्हे यह अभिमान नही था कि मै ब्राह्मण हू। मै महाराष्ट्रका हू। उनमे पृथक्ताकी, भेदकी, भावना नही थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होने सारे भारतवर्षका विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोने सारे भारतवर्षका विचार किया, तिलक उनमेंसे एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते है, वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानडे। तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमे रखा और सारे हिंदुस्तानके लिए लडते रहे। "हिंदुस्तानके हितमे मेरे महाराष्ट्रका भी हित है, इसीलिए पूनेका हित है, पूनेम रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमे महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मै, सबके हितका विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमे करनी पडेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थानमे रहकर की जानेवाली सेवाके पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित है। लेकिन उसमे मै जिस भगवान्के दर्शन करता हू, वह सर्वब्रह्माडव्यापी, चर-अचर, जड-चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णु पर्वतमूर्धनि।' उस त्रिभुवन व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी

शालग्राममे न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करनेमे भी खूबी है, रहस्य है। अपने गावमे रहकर भी मै विश्वेश्वरकी सेवा कर सकता हू। दूसरेको न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकारामने अपना देहू नामक गाव नही छोडा। रामदास दस गावोमे विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनोकी सेवाका फल एक है, अनत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मल्य मिलता है। सुदामा मट्ठीभर ही तदुल लेकर गये थे, लेकिन उन तदुलोमे प्रचड शक्ति थी। सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी। बहुत बडा कर्म करनेपर भी कुछ अभागोको बहुत थोडा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बडा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है, मूल्य बहुत बडा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धात है। माका पत्र दो ही शब्दोका क्यो न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेमकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागजपर क्यो न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूलमे शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिख गया है वह प्रेममे ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्माके यहा 'कितनी सेवा', यह पूछ नही है। 'कैसी सेवा', यह पूछ है। तिलक अत्यत बुद्धिमान, विद्वान, नाना शास्त्रोके पडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकागी और बहुत बडी है। परतु तिलकने जितनी कीमती सेवाकी, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है। तिलककी सेवा विपुल और बहुअगी थी, तोभी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवककी सेवाका मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाडीभर ज्वार रास्तेसे जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मै अपनी छोटी-सी जेबमे रख सकता हू। दस हजारका नोट अपनी जेबमे रख सकता हू। उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई छोटी-सी सेवाकी अपेक्षा कम ही मानी

जायगी। व्यापक वृत्तिसे की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सबकोई सेवा कर सके, इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहा चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर सकुचित दृष्टिसे न कीजिए। उसमे व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आजके कार्यकर्ताओमे कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्ता आज सकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पडते हैं।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्यमे मिठास और आनद है। हिंदुस्तानके ही नही, बल्कि ससारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहा सेवा कीजिए। चाहे वह एक गावकी ही सेवा क्यो न हो, वह अनमोल है, परतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए, आपके कर्मोमे कैसी स्फूर्तिका सचार होता है। कैसी बिजलीका सचार होता है। तिलकमे यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हू, यह शुरूसेही उनकी वृत्ति रही। बगालमे आदोलन शुरू हुआ। उन्होने दौडकर उसकी मदद की। बगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खडा किया। स्वदेशीका डका बजवाया। "जब बगाल लडाई के मैदान में खडा है तो हमे भी जाना ही चाहिए। जो बगालका दुख है, वह महाराष्ट्रका भी दुख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलकमे थी। इसीलिए पूनेके निवासी होकर भी वे हिंदुस्तानके प्राण बन गए। सारे देशके प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनताका यह गुण कार्यकर्त्ताओमे भी है, क्योकि वे भी तो जनताके ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बातका पता नही है। तिलकके गुणके साथ जनताके गुणका स्मरण भी करना चाहिए, क्योकि तिलक अपने-आपको जनताके चरणोकी धूल समझते थे। जनताके दोष, जनताकी दुर्बलता, त्रुटिया, सब-कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनतासे एकरूप हो गये थे, इसलिए जनताके गुणोका स्मरण तिलकके गुणोका स्मरण ही है।

यह जो जनताका गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नही है। हमारे महान् पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजोकी यह देन है। यह गुण मानो

हमने अपनी माके दूधके साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोने हमे यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रातका, किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नही, वह भारतीय है या नही। उन्होने हमे यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते है कि अग्रेजोने यहा आकर हमें देशाभिमान सिखलाया, तब कही हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एक राष्ट्रीयता की भावना अगर हमे किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजोने। उन्हीकी कृपासे यह अनूठी देन हमे प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रपिने हमे यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभ भारते जन्म'। 'दुर्लभं वगेपु जन्म', 'दुर्लभ गुर्जरेपु जन्म', ऐसा उन्होने नही कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभ भारते जन्म।' काशीमे गगातटपर रहनेवालेको किस बातकी तडप होती है। वह इसके लिए तडपता है कि काशीकी गगाकी बहगी या कावर भरकर कब रामेश्वरको चढाऊ ? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आगन और पिछवाडा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमे पद्रहसौ मीलका फासला है, परतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आगन पद्रह सौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तडपता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढाऊ। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमे नहानेवाला भी 'जय गगे', 'हरगगे' ही कहेगा। गगा सिर्फ काशीमे ही नही, यहापर भी है। जिस बर्तनमे हम नहानेके लिए पानी लेते है, उसे भी गगाजल (गगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नही, किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभ भारते जन्म' नही कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्ये वास ॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे दरवाजो, सारे किलो को तोडकर आत्माको प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोने, जो आध्यात्मिक रगमे रगे हुए थे, अपनी आत्माको स्वतत्र सचार करने

दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर, सारे भेद-भावोको पारकर जो सर्वत्र चिन्मयताके दर्शन कर सके, वे धन्य है। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्वके है, इनकी कोई सीमा नही है। परतु 'दुर्लभ भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियोने की, वह आध्यात्मिक नही, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारभिक श्लोकोमे रामके गुणोका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वे यो वर्णन करते है कि 'समुद्रइव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवाानिव'—"स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाभीर्य पैरोके निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सासमे हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराए। पाच मील ऊचा पर्वत और पाच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम-रोममे राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण सस्कृतमे है तो भी सबको आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमे प्रिय है, उतनी मद्रासकी तरफ केरलमे भी है। श्लोकके एक ही चरणमे उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरत बोल उठेगे, हम पैंतीस करोड बहन-भाई है। अग्रेजसे पूछो तो वह चार करोड बतलाएगा। फरासीसी सात करोड बतलाएगा। जर्मन छ करोड बतलाएगा। बेलजियन साठ लाख बतलाएगा। यूनानी आध करोड बतलाएगा। और हम पैं-ती-स करोड! ऐसा फर्क क्यो हुआ? हमने इन पैंतीस करोडको एक माना। उन्होने नही माना। सच पूछो तो जर्मनोकी भाषा और फरासीसियोकी भाषा अधिक विसदृश नही है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोपकी भाषाए लगभग एक-सी है। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रोमे परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होने यूरोपके अलग-अलग टुकडे कर डाले। हिंदुस्तानके प्रातोने अपनेको अलग-अलग नही माना। यूरोपके लोगोने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूसको छोड बाकीके सारे यूरोपके बराबर एक खड (महाद्वीप) ही है। लेकिन

हमने भारत को एक खड, यानी देशोका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना ।

उन अभागे यूरोपवासियोने सारा यूरोप एक नही माना । उन्होने यूरोपको एक खड (महाद्वीप) माना । उसके छोटे-छोटे टुकडे किये । एक-एक टुकडेको अपना मान लिया और एक-दूसरेसे घनघोर युद्ध किये । पिछले महासमरको ही ले लीजिए । लाखो लोग मरे । वे एक-दूसरेसे लडे, मगर आपसमे नही लडे । यह कसूर उन्होने नही किया । लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसम लडे ।

अग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते है कि "तुम आपसमे लडते रहे, अतस्थ कलह करते रहे ।" आपसमे लडना बुरा है, यह तो मै भी मानता हू । लेकिन यह दोप स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है । हम लडे, लेकिन आपसमे । इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक है, यह बात इन इतिहासकारोको भी मजूर है । उनके आक्षेपमे ही यह स्वीकृति आगई है । कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरेसे लडे, लेकिन अपने ही देशमे आपसमे नही लडे । लेकिन इसमे कौन-सी बडाई है । एक छोटे-से मानव-समुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अदर एकता है, आपसमे फूट नही है, कौन-सी बहादुरी है ? मान लीजिए कि मैने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी सकुचित व्याख्या कर ली, तो आपसमे कभी युद्ध ही न होगा । हा, मै ही अपने मुहपर चटसे एक थप्पड जड दू तो अलबत्ता लडाई होगी । परतु 'मै ही मेरा राष्ट्र हू' ऐसी व्याख्या करके मै अपने भाईसे, मासे, किसीसे भी लडू, तो यह भी आपसकी लडाई नही होगी, क्योकि मैने तो अपने साढे तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है । साराश, हम आपसमे लडे, यह अभियोग सही है, परतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योकि इस अभियोगमे ही अभियोग लगानेवालेने यह मान लिया है कि हम एक है, हमारा एक ही राष्ट्र है । यूरोपके अभागोने इस कल्पनाका विनाश किया । हमे उसकी शिक्षा दी गई है । इतना ही नही, वह हमारी रग-रगमे पैठ गई है । हम पुराने जमानेमे आपसमे लडे, तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना आज भी विद्यमान है । महाराष्ट्रने पजाबपर, गुजरात और बगालपर चढाइया

की, फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी, आत्मीयताकी भावना नष्ट नही हुई ।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रातोमे प्रिय और पूज्य हुए । तिलक-गाधी तो अलौकिक पुरुष है । सब प्रात उन्हे पूजेगे ही । परतु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य है । लेकिन उनकी भी सारे प्रातोमे प्रतिष्ठा है । पजाब महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते है । हमे उसका पता भले ही न हो, लकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान् गुण हमारे खूनमे ही घुल-मिल गया है । हमारे यहा एक प्रातका नेता दूसरे प्रातमे जाता है, लोगोके सामने अपने विचार रखता है । क्या यूरोपमे यह कभी हो सकता है ? जरा जाने दीजिए मुसोलिनीको रूसमे फासिज्मपर व्याख्यान देंने । लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेगे या फासीपर लटका देगे । हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते है तो कैसा जबरदस्त वदोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूपसे मुलाकात होती है । मानो दो खूनी आदमी किसी साजिशके लिए एक-दूसरेसे मिल रहे है । किले, परकोटे, दीवारे सव तरफ खडी करके सारे यूरोपमे द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोने । पर हिंदुस्तानमे ऐसी बात नही है। तिलक-गाधीको छोड दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगोका भी सर्वत्र आदर होता है । लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते है । ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोने हमे सिखाई है । समाज और जनतामे सर्वत्र इसका असर मौजूद है । अज्ञात रूपसे वह हमारी नस-नसमें विद्यमान है ।

हमे इस गुणका पता नही था । आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर ले । आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा । उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी । वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे । वह सारे हिदुस्तानसे एकरूप हो गये थे । यही तिलककी विशेषता है । भारतकी जनता भी प्राताभिमान आदिका खयाल न करती हुई गुणोको पहचानती है । यह भारतीय जनताका गुण है । इन दोनोके गुणोका यह चमत्कार है कि तिलकका सर्वत्र सव लोग स्मरण कर रहे है । जैसे एक ही आमकी गुठलीमे पेड, शाखा और आम पैदा होते है, उसी प्रकार एक ही

भारतमाताके बाह्यत जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते है—कोई क्रोधी, कोई स्नेही । फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठलीसे पैदा होते है, उसीसे पेडका कठिन धड भी पैदा होता है । इसी तरहसे हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यो न दिखाई दे तो भी हम एक ही भारतमाताकी सतान है, यह कदापि न भूलना चाहिए । इसे ध्यानमे रखकर प्रेम-भाव बढाते हुए सेवकोको सेवाके लिए तैयार करना चाहिए । तिलकने ऐसी ही सेवा की । आशा है, आप भी करेगे ।

: ३९ :

भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका

हमारा यह मानव-समाज हजारो वर्षोसे इस पृथ्वीपर जीवन बिता रहा है । पृथ्वी इतनी विशाल है कि पुराने जमानेमे इधरके मानवकी उधरके मानवसे कोई पहचान नही रहती थी । हरेकको शायद इतना ही लगता था कि अपनी जितनी जमात है, उतनी ही मानव-जाति है । पृथ्वीके उधर क्या होता होगा, इसका भान भी शायद उन्हे नही था । लेकिन जैसे-जैसे विज्ञानका प्रकाश फैलता गया, मनुष्यका सपर्क सृष्टिके साथ बढता गया और मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सभी दृष्टियोसे मानवोका आपसी सपर्क भी बढता गया । जब कभी दो राष्ट्रोका या दो जातियोका सपर्क हुआ तो हर बार वह मीठा ही साबित हुआ हो, ऐसी बात नही है । कभी वह मीठा होता था, कभी कडुवा, लेकिन कुछ मिलाकर उसका फल मीठा ही रहा । इस बातकी मिसाल दुनियाभरमे मिल सकती है । लेकिन सारी दुनियाकी मिसाल हम छोड भी दे और केवल भारतका ही खयाल करे तो मालूम होगा कि बहुत प्राचीन जमानेमे यहा जो आर्य लोग रहते थे, उनकी सस्कृति हिंदुस्तानकी पहाडी सस्कृति थी और दक्षिणमे जो द्रविड लोग रहते थे, उनकी सस्कृति समुद्रकी सस्कृति थी । इस तरह द्रविड और आर्योकी सस्कृतिके मिश्रणसे एक नई सस्कृति बनी । पहले ये दोनो सस्कृतिया,

उत्तर और दक्षिणकी, अलग-अलग रही। हजारो वर्षोंतक इन लोगोमें आपसमे कोई सबध नही था, क्योकि बीचमे एक बडा भारी दडकारण्य पडा था। लेकिन फिर दो जमातोका सबध हुआ। उनमेसे कुछ मीठे और कुछ कडवे अनुभव आये और उसका नतीजा आजका भारतवर्ष है। द्रविड लोग वहाके बहुत प्राचीन लोग थे। द्रविडो और आर्यों, इन दोनोकी सस्कृति-के सगमका लाभ हिंदुस्तानको मिला और उससे एक ऐसा मिश्र राष्ट्र बना, जिसमें उत्तर और दक्षिण के अच्छे अश एक साथ अनजाने मिल गये, उत्तर और दक्षिण एक हो गए। उत्तरके लोग ज्ञान-प्रधान थे तो दक्षिणके लोग भक्ति-प्रधान थे। इस तरह ज्ञान और भक्तिका सगम होगया, लेकिन इसके बाद यहा जो मिश्र समाज बना, उसकी व्यापकता भी एकागी साबित हुई।

लेकिन बाहरसे मुसलमान लोग यहा आये और अपने साथ एक नई सस्कृति ले आये। उनकी नई सस्कृतिके साथ यहाकी सस्कृतिकी टक्कर हुई। मुसलमानोने अपनी सस्कृतिके विकासके लिए दो मार्ग अपनाये, ऐसा दीखता है। एक हिसाका और दूसरा प्रेमका। ये दो मार्ग दोधाराओकी तरह एक साथ चले। हिसाके साथ हम गजनी, औरगजेब आदिका नाम ले सकते है तो दूसरी तरफ प्रेम-मार्गके लिए अकबर और कबीरका नाम ले सकते है। हमारे यहा जो कमी थी, वह इस्लामने पूरी की। इस्लाम सबको समान मानता था। यद्यपि उपनिषद् आदिमे यह विचार मिलता है, लेकिन हमारी सामाजिक व्यवस्थामे इस समानताकी अनुभूति नही मिलती थी। हमने उसपर अमल नही किया था। व्यावहारिक समानताका विचार इस्लामके साथ आया। इस्लामके आगमनके समय यहा अनेक जातिया थी। एक जाति दूसरी जातिके साथ न शादी-व्याह करती थी, न रोटी-पानी। इस तरह जहा देखो, वहा चौखटे बनी हुई थी, लेकिन धीरे-धीरे दो सस्कृतिया नजदीक आईं। दोनोके गुणोका लाभ देशको मिला। इस सिलसिलेमें जो लडाई-झगडे हुए और जो सघर्ष हुआ, उसका इतिहास हम जानते ही है। जो लोग यहा आये, उन्होने तलवारसे हिंदुस्तान जीता या हिंदुस्तानके लोग लडाईमे हार गये, यह कोई नही कह सकता, बल्कि लडाइया हुई, इसके पहले ही फकीर लोग यहा आये। वे गाव-गाव घूमे

और उन्होने इस्लामका सदेश पहुचाया। यहाके लिए वह चीज एकदम आकर्षक थी।

बीचके जमानेमे हिंदुस्तानमे बहुत-से भक्त हुए, जिन्होने जातिभेद-के खिलाफ प्रचार किया और एक ही परमेश्वरकी उपासनापर जोर दिया। इसमें इस्लामका बहुत बडा हिस्सा था। हिंदुस्तानको इस्लामकी यह बडी देन है। इस तरह पहले ही जो सस्कृति द्रविड और आर्योकी अच्छा-इयोके मिश्रणसे बनी थी, उसमें यह नया रसायन दाखिल हुआ।

इसके बाद कुल तीनसौ साल पहलेकी बात है। यूरोपके लोगोको मालूम हुआ कि हिंदुस्तान बडा सपन्न देश है और वहा पहुचनेसे लाभ हो सकता है। इसी समय यूरोपमे विज्ञानकी प्रगति हुई। वे लोग हिंदुस्तान आ पहुचे। हिंदुस्तानमे अभीतक जो प्रगति हुई थी, उसमे विज्ञानकी कमी थी। यह नही कि विज्ञान यहा था ही नही। यहा वैद्यक-शास्त्र मौजूद था, पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र मौजूद था, लोगोको रसायन-शास्त्रका ज्ञान था। अच्छे मकान, अच्छे रास्ते, अच्छे मदरसे यहा बनते थे—यानी शिल्प-विज्ञान भी था। अर्थात हिंदुस्तान एक ऐसा प्रगतिशील देश था, जहा उस जमानेमें अधिक-से-अधिक विज्ञान मौजूद था। लेकिन बीचके जमानेमे यहा विज्ञानकी प्रगति कम हुई। उसी जमानेमें यूरोपमे विज्ञानका आविष्कार हुआ और पाश्चात्य लोग यहा आ पहुचे। अब उनके और हमारे बीच सघर्ष शुरू हुआ। उनके साथ हमारा सबध कडवा और मीठा दोनो प्रकारका रहा तथा अब इस मिश्रणसे एक और नई सस्कृति बनी। कुछ मिश्रण तो पहले ही हो चुका था। फिर जो-जो प्रयोग यूरोपवालोने अपने देशमें किये, उनके फलस्वरूप न सिर्फ भौतिक जीवनमे, बल्कि समाजशास्त्र आदिमे भी परिवर्तन हुए और जैसे-जैसे अग्रेज, फ्रेच, जर्मन, रशियन आदिके विचारोसे परिचय होने लगा, वैसे-वैसे वहाके नव-विचारोका सबध भी बढने लगा। आज हम जहा जाते है, वहा सोशलिज्म (समाजवाद), कम्युनिज्म (साम्यवाद) आदिपर विचार सुनते है। ये सारे विचार पश्चिमसे आये है। अब इनसब विचारोमें झगडा शुरू हुआ है। उसमेसे कचरा-कचरा निकल जावेगा। हमारी सस्कृति कुछ खोयेगी नही, बल्कि कुछ पायेगी ही। यही देखो न! हिंदुस्तानमें—बावजूद इसके कि पश्चिमके

विचारोका प्रवाह निरतर यहा आता रहा—पहलेके जमानेमे जितने आध्यात्मिक विचारवाले महापुरुष पैदा हुए, उनसे कम इस जमानेमें नही हुए। यहा नाम गिननेमे तो समय जायगा। अब इस समय भी सघर्ष हो रहा है, टक्कर हो रही है, मिश्रण हो रहा है। यह जो बीचकी अवस्था है, उसमे कई प्रकारके परिणाम होते है।

यह तो मैने प्रस्तावके तौरपर अपने कुछ विचार रखे, ताकि हिंदुस्तानकी हालत आप लोग अच्छी तरह समझ सकें।

गाधीजीके जानेके बाद जब मै सोचता रहा कि अब मुझे क्या करना चाहिए तो मै निर्वासितोके काममे लग गया। परतु यहाके कम्युनिस्टोंके प्रश्नके बारेमे मै बराबर सोचता रहा। यहाकी खून आदिकी घटनाओके बारेमे मुझे जानकारी मिलती रहती थी, फिर भी मेरे मनमें कभी घबराहट नही हुई, क्योकि मानव-जीवनके विकासका कुछ दर्शन मुझे हुआ है। इसलिए मै कह सकता हू कि जब-जब मानव-जीवनमें नई सस्कृतिका निर्माण हुआ है, वहा कुछ सघर्ष भी हुआ है, रक्तकी धारा भी बही है। इसलिए हमे बिना घबराये शातिसे सोचना चाहिए और शातिमय उपाय ढूढना चाहिए।

मुझे सूझा कि इस मुल्कमें घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाय? मोटर आदि साधन विचार-शोधक नही है। वे समय-साधक हैं, फासला काट सकते है। जहा विचार ढूढना है, वहा शातिका साधन चाहिए। पुराने जमानेमें तो ऊट, घोडे आदि थे। लोग उनका उपयोग भी करते थे और रातभरमे दोसौ मील तक जाते थे। परतु शकराचार्य, महावीर, बुद्ध, कबीर, चैतन्य, नामदेव-जैसे लोग हिंदुस्तानमें घूमे और पैदल ही घूमे। वे चाहते तो घोडेपर भी घूम सकते थे, परतु उन्होने त्वरित साधनका सहारा नही लिया, क्योकि वे विचारका शोधन करना चाहते थे, और विचार-शोधनके लिए सबसे उत्तम साधन पैदल घूमना ही है। इस जमानेमे वह साधन एकदम सूझता नही, परतु शाति-पूर्वक विचार करे तो सूझेगा कि पैदल चले बिना चारा नही है।

इस तरह मैं वर्धासे शिवरामपल्ली आया और वहासे यहातक अब कोई छ हफ्ते होते है। इस बीच मैने हर गावका अधिक-से-अधिक परिचय

प्राप्त किया । कम्युनिस्टोके कामके पीछे जो विचार है उसका सारभूत अश हमे ग्रहण करना होगा, उसपर अमल करना होगा । यह अमल कैसे किया जाय, इस वारेमे मै सोचता था तो मुझे कुछ सूझ गया । ब्राह्मण मै था ही, वामनावतार मैने ले लिया और भूमिदान मागना शुरू कर दिया ।

पहले-पहल लगता था कि इसका परिणाम वातावरण पर क्या होगा ? थोडे-से अमृतविदुओंसे सारा समुद्र मीठा कैसे होगा ? पर धीरे-धीरे विचार वढता गया । परमेश्वरने मेरे शब्दोमे कुछ शक्ति भर दी । लोग समझ गये कि यह जो काम चल रहा है, क्रातिका है और सरकारकी शक्ति के परे है, क्योकि यह काम तो जीवन वदलनेका काम है । अव लोग दान देने लगे । एक जगह हरिजनोने अस्सी एकड मागे और एक भाईने सौ एकड दे दिये । इस तरह लोग मुझे देने लगे । यद्यपि लोगोने मुझे काफी दिया तो भी मेरा काम इतनेसे पूरा नही होता ।

जव विचार फैलेगा तव काम होगा । मै चाहता हू कि दरिद्रनारायणको, जो भूखा है और अव जाग गया है, आप अपने कुटुवका एक हिस्सा समझ लें और आपके परिवारमें चार लडके है तो उसे पाचवा मान ले । एक भाईके पास पाच एकड़ जमीन थी । उस भाईसे मैने जमीन मागी तो उसने मुझसे कहा कि मेरे घरमे आठ लडके है । मैने पूछा 'कि अगर नौवा आया तो उसे भी सहोगे या नही ? उसने कहा, "हा ।" मैने कहा, "यही समझो कि मै नौवा हूं और मुझे भी कुछ दे दो ।" समझ लीजिए कि दस हजार एकड-वाला सौ एकड देता है । आकडा दीखनेको वहुत वडा दीखता है, पर दाता और दरिद्रनारायण दोनोके हिसावसे वह कम है । इस आकडेसे मै तो सतुष्ट हो जाऊगा, परतु देनेवालोको नही होना चाहिए । अगर ऐसा होता कि यहा कोई भूख की या चद लोगोंके सकटनिवारणकी समस्या होती और मै दान मागता तो थोडा-थोडा देनेसे भी काम चल जाता, परतु यहा तो एक राजकीय समस्या हल करनी है, एक सामाजिक समस्या सुलझानी है, जो समस्या न सिर्फ इन दो जिलोकी है, न सिर्फ हिंदुस्तानकी है, वल्कि पूरी दुनियाकी है । और जहा ऐसी राजनैतिक व सामाजिक क्राति करनेकी वात है, वहा तो मनोवृत्ति ही वदल देनेकी जरूरत होती है ? अगर कोई छोटा-सा सकल्प होता तो अल्प दानसे काम चल जाता, परतु यहा दस

हजार एकड जमीन रखनेवाले यदि सौ एकड देने लगेगे तो काम नही चलेगा। उन्हे तो दरिद्रनारायणको अपने परिवारका एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मै तो गरीब और श्रीमान सबका मित्र हू। मुझे तो मैत्रीमे ही आनद आता है। जो शक्ति मैत्रीमे है वह द्वेषमे नही है। अनेक राजाओने लडाइया लडकर जो क्राति नही की, वह बुद्ध, ईसा, रामानुज, आदिने की। इनमेसे एक-एक आदमीने जो काम किया, वह अनेक राजाओने मिलकर नही किया, अर्थात् प्रेम और विचारकी तुलनामे दूसरी कोई शक्ति नही है। इस वास्ते बार-बार समझानेका काम पडे तो भी मै तैयार हू। दो दफा समझानेसे कोई न समझ सका तो तीन दफा समझाऊगा। तीन दफा समझानेसे यदि नही समझ सका तो चार दफा समझाऊगा। और चार दफा समझानेसे भी नही समझेगा तो पाच दफा समाझाऊगा। समझाना, यही मेरा काम है। जबतक मै कामयाब नही होता तबतक मै हारूगा नही, निरतर समझाता ही रहूगा।

जो मै चाहता हू वह तो सर्वस्व-दानकी बात है। जैसा पोतना कविने (तेलगु) भागवतमे बताया है--"तल्लिदड्रल भगि धर्मवत्सलतनु दीनुल गाव चिंतिचुवाडु।" माता-पिताके समान चिंता करनेकी यह उपमा मै आपको लागू करना चाहता हू। जिस प्रेमसे माता-पिता-बच्चोके लिए काम करते है, भूखे रहकर उन्हे खिलाते है, उनके लिए सर्वस्वका त्याग करते है, वह शक्ति और वह प्रेम मै आप लोगोसे प्रकट कराना चाहता हू।

आज मै जेलमें यह जाननेके लिए कम्युनिस्ट भाइयोसे मिलने गया था कि उनके क्या विचार चल रहे है। उनके साथ जो बातचीत हुई, वह पूरी यहा बतानेकी आवश्यकता नही है। पर उन्होने एक सवाल मुझसे किया कि क्या आप इन श्रीमानोको वापस अपने घरोमे ले जाकर बसाना चाहते है? क्या उनके दिलमें परिवर्तन होनेवाला है? आपको वे लोग ठग रहे है। कुछ इस तरहका उनका भाव था। मुझे वहा उनसे बहस नही करनी थी, न उनके हर प्रश्नका जवाब ही देना था। लेकिन अगर यह बात सही है कि हरेकके हृदयमे परमेश्वर विराजमान है और हमारे श्वासोच्छ्वासका नियमन वही करता है और सारी प्रेरणा वही देता है तो मेरा विश्वास है कि परिवर्तन जरूर हो सकता है। अगर कालात्मा खडा

है और कालात्मा परिवर्तन करना चाहता है तो परिवर्तन होने ही वाला है। मनुष्य चाहे या न चाहे, जब मनुष्य प्रवाहमें पडता है तब उसकी तैरनेकी शक्ति ही उसके काम नहीं आती, प्रवाहकी शक्ति भी काम आती है। उसी तरह मनुष्यके हृदयमें परिवर्तनके लिए काल-प्रवाह मददरूप होता है। आज तो सबकी भूमि तपी हुई है। ऐसी तपी हुई भूमिपर प्रेमकी दो बूदे छिडकानेका काम अगर भगवान् मुझसे करवाना चाहता है तो मै वह खुशीसे कर रहा हू। मै तो गरीबोसे भी जमीन ले रहा हू। एक एकडवालेसे भी मै एक गुठा ले आया हू। अगर वह आधा गुठा देता तो भी मै ले लेता। लोग पूछते है कि एक गुठा जमीनका मै क्या करूगा? मै कहता हू, "कोई हर्ज नही। जिसने मुझे वह एक गुठा दिया है, उसीको ट्रस्टी बनाकर मै वह जमीन उसे सौंप दूगा और कहूगा कि जो पैदावार उसमे होगी, वह गरीबोको दे देना।" एक एकडवालेको एक गुठा देनेकी वृत्ति होना, उसे ही मै विचार-क्राति कहता हू। जहा विचार-क्राति होती है, वही जीवन प्रगतिकी ओर बढता है। 'अपि प्राज्यम् राज्यम् तृणमिव परित्यज्य सहसा'—एक घास के तिनकेकी तरह राज्यका परित्याग करनेवाला त्यागी इस भूमिमें हो गये है।

विचार-शक्तिकी कोई हद नही होती। एक विचार एक मनुष्यको ऐसा सूझता है कि उससे मनुष्यके जीवनमे क्राति हो जाती है। आपने देखा, कुछ महापुरुष भी ऐसे होते है, जिनके विचारमे ऐसी शक्ति होती है कि दूसरेके जीवनको पलट देते है। इसलिए विचारको जगानेके लिए मैंने उस गरीबसे भी एक गुठा जमीन ले ली और जहा मै उन श्रीमानोसे जमीन ले रहा हूं, वहा उनके सिरपर मेरा वरदहस्त है—"भाइयो, तुम्हें अब शहरमें भागकर जानेकी आवश्यकता नही है। कबतक भागते रहोगे?" यानी जहा मैंने श्रीमानोसे सौ एकड दान लिया, वहा मैंने उनके मनमे एक अच्छा विचार भी जगा दिया। हरेक मनुष्यके दिलमे अच्छे-बुरे विचार होते है। अब उसके हृदयमें एक लडाई शुरू होती है, एक महाभारत-युद्ध शुरू होता है।

"सुविज्ञान चिकितुषे जनाय
सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते
तयोर्यत् सत्यं यतरत् ऋजीयः
तदित् सोमोऽवत्ति हन्ति आ असत्"

जाननेवाले जानते है कि हर मनुष्यके हृदयमे सत् और असत्की लडाई नित चलती रहती है। जो सत् होता है उसकी रक्षा होती है और जो असत् है उसका खात्मा होता है। इसीलिए दाता ढोंगी है, ऐसा माननेका कारण नही है। परतु उसके द्वारा अन्यायके भी कई काम हुए होते है। बिना अन्यायके हजारो एकड जमीन कभी जमा हो सकती है? अर्थात् जिन्होने दान दिया है, उन श्रीमानोके जीवनमें कई तरहका अन्याय और अनीतिका होना सभव है। परतु उनके हृदयमे भी एक झगडा शुरू होगा कि क्या हमने जो अन्याय किया है, वह ठीक है? परमेश्वर उन्हें बुद्धि देगा, वे अन्याय छोड देंगे। परिवर्तन इसी तरह हुआ करता है।

मेरी प्रार्थना है कि अब देनेका जमाना आया है, आप सब लोग दिल खोलकर दीजिए। देनेसे एक दैवी सपत्ति निर्माण होती है। उसके सामने आसुरी सपत्ति टिक नही सकती, आसुरी सपत्ति लुट जाना चाहती है। वह ममत्वभावपर आधार रखती है। समत्व नही जानती। दैवी तो समत्व-पर आधार रखती है। दैवी और आसुरी सपत्तिकी यह पहचान है।

जहा मै दान लेता हू वहा हृदय-मथनकी, हृदय-परिवर्तनकी, मातृ-वात्सल्यकी, भ्रातृ-भावनाकी, मैत्रीकी और गरीबोके लिए प्रेमकी आशा करता हू। जहा दूसरोकी फिक्रकी भावना जागती रहती है, वहा समत्व बुद्धि प्रकट होती है, वहा वैरभाव टिक नही सकता। वैरभावका स्वतत्र अस्तित्व ही नही होता। पुण्यमें ताकत होती है, पापमें कोई ताकत नही होती। प्रकाशमें शक्ति होती है, अधकारमे कोई शक्ति नही होती। प्रकाशको अधकारका अभाव नही कह सकते। प्रकाश वस्तु है, अधकार अवस्तु है। लाखो वर्षोंके अधकारमे प्रकाश ले जाइए, एक क्षणमे अध-कारका निवारण हो जायगा। वैसे ही आज पुण्योदय हुआ है। उसके सामने वैरभाव टिक नही सकता। यह भू-दान-यज्ञ अहिसाका एक प्रयोग है, जीवन-परिवर्तनका प्रयोग है। मै तो निमित्त-मात्र हू। आप भी निमित्त-मात्र है। परमेश्वर आप लोगोसे और मुझसे काम कराना चाहता है। वह काल-पुरुषकी, परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसलिए मै माग रहा हू, तब आप लोग दीजिए और दिल खोलकर दीजिए। जहा लोग एक फुट जमीनके लिए झगडते है, वहा मेरे कहनेसे लोग सैकडो-हजारो एकड जमीन देनेके लिए

तैयार हो जाते है । तो आप समझिए कि यह परमेश्वरकी प्रेरणा है । इसके साथ हो जाइए । इसके विरोधमे मत खडे रहिए । इसमेंसे भला-ही-भला होगा ।

आज मै फिरसे कहता हू कि हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाना चाहते हैं । अगर हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाए तो इस भूमिको हम स्वर्ग बना सकते हैं । लेकिन फिर हमें विज्ञानके साथ हिंसाको नही, अहिंसाको जोडना होगा । अहिंसा और विज्ञानके मेलसे ही यह भूमि स्वर्ग बन सकती है । हिंसा और विज्ञानके मेलसे वह स्वर्ग नही बन सकती, बल्कि खत्म हो सकती है ।

पहले लडाइया छोटी-छोटी होती थी । जरासध-भीम लडे, कुश्ती हुई, पाण्डवोको राज्य मिल गया, सारी प्रजा खून-खराबीसे बच गई । अगर इस जमानेमें वैसी लडाइया लडी जाय तो इसमे हिंसा होनेपर भी नुकसान कम है । इसलिए यह द्वद्व-युद्ध मै कबूल कर लूगा । अगर हिटलर और स्टालिन कुश्तीके लिए खडे हो जाते है और तय करते है कि जो हारेगा वह हारेगा और जो जीतेगा वह जीतेगा तो मै उसे कबूल कर लूगा । और अगर दुनिया वह द्वद्व देखनेको आई है तो मै उसका निषेध नही करूगा, क्योकि दुनियाका उसमे विशेष नुकसान नही होगा । परतु द्वद्व-युद्धका जमाना अब बीत गया है । पहले द्वद्व-युद्ध होते थे, फिर हजारो लोग आपसमें लड़ने लगे । हजारोकी लडाई खत्म हुई तो लाखो लडने लगे । उससे भी नतीजा नही निकला । फिर क्या, इधर बीस लाख तो उधर पच्चीस लाख और इधर पच्चीस तो उधर पचास लाख । इस तरह यह जमाना आया कि हजारो-लाखो नही, करोडो लोग आपसमें लडने लगे । मनुष्यके सामने सवाल यह है कि या तो 'टोटल वार' की तैयारी करो या हिंसा छोडो और अहिंसाको अपनाओ । मै कम्युनिस्टोको यही समझाता हू कि भाइयो, तुम लोग कही दो-चार खून करते हो, कही दो-चार मकान जलाते हो,-कही कुछ लूट-खसोट कर लेते हो, रातमे आते हो, दिनमे पहाडीमे छिपते हो, लेकिन अब छिपनेका जमाना खत्म हो चुका है । अब ऐसी हरकतोसे कोई लाभ नही है । अगर लडाई लडनी है तो विश्वयुद्ध (वर्ल्ड वार) की तैयारी करो और उसीकी राह देखो । लेकिन जबतक करोडोके पैमानेपर हिंसा करनकी तैयारी नही करते तबतक छोटी-छोटी लडाइयोका यह तरीका

छोड दो और तुम्हें वोट देनेका जो अधिकार मिला है उससे लाभ उठाओ। प्रजाको अपने विचारके लिए तैयार करो। जागतिक युद्ध या परिशुद्ध प्रेम, ऐसी समस्या विज्ञानने हमारे सामने खडी कर दी है।

इसलिए अगर प्रेमका, अहिंसाका तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनोका ममत्व छोड दो, नही तो हिंसाका ऐसा जमाना आनेवाला कि उसमे सारी जमीने और उस जमीनपर रहनेवाले प्राणी खतम हो जायगे। यह समझकर कि भगवानने यह समस्या हमारे सामने खडी कर दी है, भाइयो! निरतर दान दिया करो।

तेलंगाना, १९५१

: ४० :

ग्रामदानकी विचार और आचार-योजना

अग्रेज हिंदुस्तानमें किस तरह आये और कैसे स्थिर हुए, उसका इतिहास सब जानते है। आश्चर्यकी बात यह है कि पहले उनके राज्यके लिए हम लोगो मे कुछ श्रद्धा भी थी, परतु चद दिनोमें उस श्रद्धाका पर्यवसान शकामें हुआ। फिर बहुत दिनोके बाद यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-प्राप्तिके बिना हिंदुस्तान के दुख नही मिटेगे। दादाभाई नौरोजीने १९०६ मे कलकत्ता-काग्रेस में हिंदुस्तानको स्वराज्यका मत्र दिया। उसके बाद लोकमान्य तिलकने और फिर महात्मा गाधीनेउस कार्यक्रमको उठा लिया। हजारो लोग उनके साथ जुट गये। बहुत तीव्र प्रयत्नके बाद स्वराज्यकी प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जब एक मत्रकी सिद्धि हो जाती है तब साधकोकी हिम्मत बढती है। जो साधक नही होते, उनकी शक्ति मत्र-सिद्धिके बाद क्षीण हो जाती है। एक मत्र सिद्ध हो गया तो फिर उनकी भोग-वासना जागृत हो जाती है, फिर वे नई तपस्या नही कर पाते। परतु जो साधक होते है, उनका एक मत्रकी सिद्धिके बाद उत्साह बढता है। हिंदुस्तानमे भी साधक काफी सख्या में थे, जिन्हे गाधीजीकी तालीम मिली थी। उन लोगोने स्वराज्य-प्राप्तिके बाद अपने सामने सर्वोदयका मत्र रखा। एक मत्रकी सिद्धके बाद जब फौरन

दूसरा मत्र आता है तो मनुष्यके जीवनकी सिद्धके लिए वह वहुत ही सौभाग्य की वात समझनी चाहिए। जैसे कालिदासने लिखा है—"क्लेष फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते" अर्थात् जव एक क्लेश फलित होता है तो साधकको को फिरसे नये क्लेशकी हिम्मत होती है। वैसे ही हिंदुस्तानको स्वराज्यके वाद नये मत्र की प्राप्ति हुई। उन्हे यह मत्र ढूढना नही पडा। वह गाधीजीकी स्फूर्ति थी कि एक मत्रकी सिद्धि के पहले ही उन्होने दूसरा मत्र तैयार रखा था। जो क्रातिदर्शी होते है उनका यह लक्षण है कि वे दूरका देखते है। गाधीजी-ने भी वहुत दूरका देख लिया था। १६१७में, याने स्वराज्य-प्राप्ति के ३० साल पहले ही, उन्होने दक्षिण भारतमे हिंदीका काम शुरू किया था। वे कहते थे कि हमलोग हिंदीमें अच्छी तरह तैयार हो जायगे तो स्वराज्यके वाद प्रगति कर सकेंगे। १६३७मे, याने स्वराज्य के १० साल पहले ही उन्होने नई तालीमकी खोजकी थी, ताकि स्वराज्यके वाद नई तालीम शुरू हो जाय और देशकी प्रगति न रुके। इस तरहसे स्वराज्य-प्राप्ति के वाद क्या करना पडेगा, इसका भी दर्शन उन्हे २५-३० साल पहले ही हुआ था। स्वराज्यके वाद सर्वोदय करना होगा, यह मत्र उन्होने दे रखा था।

भारतका यह वहुत वडा भाग्य है कि एक मत्रकी सिद्धिके वाद दूसरा मत्र उपस्थित हुआ। मत्रकी सिद्धिके लिए तपस्या करनी पडती है। एक तपस्या पूरी होनेके वाद फौरन दूसरी तपस्या शुरू करनेका आनंद भगवानने हमे दिया। जिस जीवनमे तपस्या नही, मत्र नही, वह जीवन सुखमय हो तो भी निस्सार हो जाता है। मनुष्यको उस सुखमें रस नही मालूम होता है। फिर मनुष्य यह करता है कि घरमे खानेकी चीजे खूव पडी रहने पर भी एकादशीका उपवास करता है। सुखमें मनुष्यको समाधान नही होता है, इसलिए वह तपस्या ढूढता है। सुखमे पशुको समाधान होता है, लेकिन मनुष्यको कोई मत्र चाहिए, तपस्या करनेका मौका चाहिए। स्वराज्य-प्राप्तिके वाद हमें फौरन एक मत्र प्राप्त हुआ और साधक उस काममे लग गए। सत्ता हाथमे आई तो उसके साथ कई प्रकारकी वाधाए भी आई। कुछ लोगोको सत्ता हाथमें लेनी पडी। वह आवश्यक भी था। परतु उस समय वहुत पीडा सहन करनी पडी। देश मे खूव हिंसा चली। ५० लाख लोग पाकिस्तानमे हिंदुस्तान आये और करीव उतने ही हिंदुस्तानसे

पाकिस्तान गये, जिससे बहुत बडी समस्या खडी हुई। परस्पर द्वेप चला। किसीका किसीपर विश्वास नही था। स्वराज्य प्राप्त तो हुआ परतु उसके टिकनेका क्षणभर भी भरोसा नही रहा। उस हालतमे सर्वोदय तो कही छिप गया और सर्वनाशका ही लक्षण दीखने लगा।

किसी तरहसे परिस्थिति सभल गई और उसके वाद देशमे योजना चली। उस योजनामे सर्वोदयका तो कही पता नही चला। यह सोचा गया कि देशकी रक्षा अच्छी होनी चाहिए। तो लश्कर उत्तम होनी चाहिए। जहा मनुष्य युद्धकी कल्पना कर लेता है वहा बडे-वडे उद्योगोका विकास करना होता है, क्योकि आधुनिक युद्ध-कलामे उसकी जरूरत होती है। हिंदुस्तानके दो टुकडे होगए थे। एक-दूसरेका एक-दूसरेको भय था। इस हालतमें कोई भी देश अपनी योजना स्वय नही करता है। हम नाममात्रका राष्ट्रीय प्लानिग करते है, लेकिन वास्तवमे अपना 'प्लानिंग' हम नही करते है, वल्कि दूसरे देश हमारा प्लानिग करते है। पाकिस्तानने सेना बढाई तो हमारे प्लानिंगमे भी सेना वढानेकी वात आती है। फिर हमे प्लानका बहुत-सा पैसा उसीमे लगाना होता है। इसका मतलब यह होता है कि आपके देशका प्लानिंग पाकिस्तानने किया। प्लान करनेके लिए दिल्लीमे हम बैठे, प्लान हमारे हाथसे हुआ, परतु हमारे दिमागसे नही हुआ। हमारा दिमाग कहता था कि अधिक-से-अधिक पैसा गरीबोकी सेवा में लगाना चाहिए और सेना पर कम-से-कम खर्चा करना चाहिए, गाधीजीके बताए हुए अहिंसाके मार्ग पर चलना चाहिए, फिर भी हमारे हाथोने लिखा कि सेनाका बल बढाना चाहिए, क्योकि हमारा प्लानिंग पाकिस्तानने किया और पाकिस्तानका प्लानिग किसने किया ? वहा तो अभी चुनाव ही नही हुए है और दस सालमे पाच मत्रि-मडल बदल गए, तो वे क्या प्लानिंग करेगें। पाकिस्तान भक्त बन गया है, अमेरिकाकी शरणमे गया है। पाकिस्तानका प्लानिंग अमेरिका करता है और आपका प्लानिंग पाकिस्तान करता है। अब सर्वोदय कहा रहेगा ? इस हालतमे सर्वोदय अगर चलेगा तो जन-शक्ति से चलेगा।

सर्वोदयके साधक चद थे। वे बेचारे निराश हो गए। वे खुद चरखा कातते थे, परतु समझते थे कि अपनी मृत्यु के साथ यह चरखा भी दहनके काममे आयेगा। वे कहते थे कि हम तो कातना नही छोडेंगे, क्योकि हमने

यह व्रत लिया है। हम तो यह पातिव्रत वरावर निभाएगे,परतु इसमेसे कुछ निकलेगा नही। दुनियामे अव चरखा चलेगा नही, मिल ही चलेगी। जो सावक नही थे, उन्होने कातना छोड दिया था, परतु जो सावक थे उन्होने नही छोडा। वे कहते थे कि हम इस उपासना को नही छोडेगे, परतु उनके मनमे आशा नही थी। इस तरह सर्वोदय निराशामे पहुच गया था। 'सर्वोदय' शव्द तो लोगोने उठाया, परतु 'सर्वोदय होटल' भी खुल गया, याने वह शव्द राम-नामके-जैसा पवित्र वन गया। जैसे किसी कारखानेको भी रामजीका नाम दिया जा सकता है, वैसे ही सर्वोदयकी हालत हो गई। 'सर्वोदय' शव्द वहुत अच्छा है, वह विचार सवको कवूल है, परतु व्यवहारमे नही आयेगा, अव्यवहार्य है, ऐसा देशका निर्णय हुआ। इसपर भी सर्वोदयके साधक काम कर रहे थे।

हम भी ढूढ रहे थे कि सर्वोदयकी शक्ति कहासे प्रकट होगी। होते-होते भगवानकी कृपासे तेलगानामे भूदान-यज्ञका जन्म हुआ और सर्वोदय की अहिसा पद्धतिसे कुछ-न-कुछ काम वन सकता है, इसका थोडा दर्शन वहा पर हुआ। तेलगानाके दो महीनेके भूदान-कार्यमे वहा थोडी शाति हुई। उसके वाद कम्युनिस्टोने चुनावमे हिस्सा लिया और एक प्रदेशमे उनकी सरकार भी वनी। उन्होने सविवानके अदर रहकर काम करनेका निश्चय किया। इस तरहसे परिवर्तन होता गया तो सर्वोदयका विचार कुछ पराक्रम कर सकता है, व्यवहारमें आ सकता है, ऐसा कुछ थोडा भास देशको हुआ। सर्वोदय अच्छा विचार है, इसमे किसीको सदेह नही था। परतु वह व्यावहारिक है या नही, इस वारेमें सदेह था, लेकिन वह शायद कुछ व्यावहारिक है, ऐसा भास हुआ तो सर्वोदयके सावकोकी कमर मजवूत हुई। आखिर भूदान के आगे वढते-वढते उसमेंसे ग्रामदान निकला तो एक मानसिक चमत्कार हुआ; यानि सर्वोदयमे काफी शक्ति पडी है, इसका भास हुआ।

इसके वाद और एक वात हुई जो उससे भी वड़ी थी, लेकिन उसकी तरफ लोगोका जितना ध्यान जाना चाहिए था, उतना नही गया। भारत-भरमें भूदानका काम चला और आखिर ग्रामदान हुआ। उसका आधार यह था कि जिले-जिलेमें भूदान-समिति थी। जैसे हर जिलेमे काग्रेस-कमेटी होती है, वैसे हिंदुस्तानके तीनसौ जिलोमेंसे करीव ढाईसौ जिलोमें भूदान-समिति

थी। उसके लिए गाधी-निधिसे कुछ मदद भी मिलती थी। वह अच्छा ही था। गाधी-निधिका उसमें बहुत सुदर उपयोग होता था, क्योकि गाधीजीके स्मरणके लिए वह निधि थी, और गाधीजीके विचारका प्रचार जितनी अच्छी तरह इससे हो सकता है, उतना और किसीसे नही हो सकता है, इस वातको सब नेता महसूस करते थे और गाधी-निधिवाले वडी खुशीसे भूदान के लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होनेके बाद हमारे चित्तमे एक छटपटाहट पैदा हुई। हमे लगा कि अब और एक क्रातिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदानसे ग्रामदान तक प्रगति होनेसे विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह सारा तत्र तोडना चाहिए। इसलिए भूदानके लिए जो गाधी-निधिका आधार लिया जाता था, वह हमने बद किया और सारा तत्र, भूदान-समितिया आदि, तोड़ डाली। कोई भी पार्टी, जो व्यापक वनी है, अपना सगठन और मजबूत करना चाहती है। लेकिन वहा हमने विल्कुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। पलनीमें एक ही प्रस्तावसे सारे भारतकी कुल भूदान-समितिया खत्म कर दी। कल्पनाके विकासका इतिहास लिखनेवाला भविष्यका इतिहासकार इस कल्पनाको बहुत महत्व देगा। वही वास्तवमे इतिहास है, जिसमे मानवकी कल्पनाका किस तरह विकास हुआ, यह बताया गया है।

हमने यह सारा तत्र क्यो तोडा? क्रातिया मात्रिक होती है, तात्रिक नही होती हैं। मत्रके बलसे क्राति होती है, तत्रके सगठनके बलसे नही। सस्थासे कोई साधारण सेवाका काम हो सकता है, उससे सत्ता बन सकती है परतु जन-समाजमें क्राति लानेका काम उससे नही हो सकता। क्रातिके लिए मत्र चाहिए और लोग सारे मुक्त हो। हरकोई अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता हो। इस तरह सारी जनतापर आदोलन सौप दे, तव क्राति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रातोमें जहा पहले ४०-५० कार्यकर्ता थे, उनके बदले सैकडो कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रातोमे जहा पहले कार्यकर्ता १०-५ थे, वे भी गिर गये। इस तरह दोनो परिणाम निकले। हमने दोनो परिणामोकी कल्पना कर रखी थी और मनमें दोनोकी तैयारी भी, वल्कि समितिया टूटनेके बाद कुल हिंदुस्तानका काम गिर जाता तो भी हमे लगता

कि हमने जो कदम उठाया, वह सही है, क्योकि यह एक शास्त्र है, सिद्धात है कि क्रातिया कभी सस्थाओके जरिए नही होती। सस्थाका एक ढाचा होता है, एक अनुशासनकी पद्धति होती है, उसके अदर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमें बुद्धि-स्वातत्र्य नहीं रहता है।

आजके लोकतत्रमे यह दोप देख सकते हैं। मान लीजिए कि चुनावमे ३०%लोगोने एक पार्टीको वोट दिया, वाकीके ३०%ने २–४ पार्टियोको मिलकर वोट दिया और ४०%ने किसीको वोट ही नही दिया। अब जिस पार्टीको ३०%वोट मिले उस पार्टीका राज्य चलेगा और वे १००% लोगो पर राज्य करेगे। अब वे जो ३०% वोट पानेवाले राज्य करने लगे उनकी सरकारकी तरफसे पार्लीमेंटमे एक विल आता है, जिसकी चर्चा पहले पार्टीकी वैठकमे होती है। वहा १६%लोगोने इस विलको कवूल किया और १४%ने कवूल नही किया, तो भी पार्टी-वैठकमे वह विल पास हो जाता है। फिर वह विल पार्लीमेंटमें आता है, तो जिन १४%ने उसे पसद नही किया, उन्हें भी वहा उसे पसद करना पडेगा। उसके पक्षमे हाथ उठाना पडेगा, क्योकि पार्टीका अनुशासन होता है। तो आखिर भारतपर कितने प्रतिशतकी सत्ता चली? यह केवल भारतकी ही हालत नही है, सारी दुनियाके लोकतत्रोकी हालत है। आखिर १६%का राज्य चलता है और इसका नाम है वहुमतका शासन और वे जो १६ है उनमे भी २–४ लोगोके पीछे सव लोग चलते हैं। इसका मतलव यह हुआ कि २-४ व्यक्तियोके ही दिमाग-का राज्य भारतपर चलता है। सस्था की शैलीसे यह सव होता है। इसमें क्रातिका सवाल ही नही आता है, क्योकि वुद्धिकी आजादी नही होती। वहा तो हाथोकी गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रातिके लिए तत्र नही चाहिए। हमारे इस निश्चयके वाद ग्रामदानोकी सख्या वढती ही गई।

भूदानमें एकके वाद एक अद्‌भुत घटनाए घटती गईं। लोग भूदानके विचारकी ओर ध्यान देने लगे, यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदानसे आरभ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते है, यह दूसरी वडी घटना है। फिर सारे भारतमें जो तत्र वना था, वह तोडने के लिए लोग तैयार हो गए, यह और एक वडी घटना है। वावजूद तत्र तोडनेके, ग्रामदान वढ रहे है, यह एक अद्‌भुत ही घटना है और इस सवके सिरपर एक वडी घटना मैसूर प्रदेशमें

थी। उसके लिए गाधी-निधिसे कुछ मदद भी मिलती थी। वह अच्छा ही था। गाधी-निधिका उसमे बहुत सुदर उपयोग होता था, क्योकि गाधीजीके स्मरणके लिए वह निधि थी, और गाधीजीके विचारका प्रचार जितनी अच्छी तरह इससे हो सकता हे, उतना और किसीसे नही हो सकता है, इस बातको सब नेता महसूस करते थे और गाधी-निधिवाले बडी खुशीसे भूदान के लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होनेके बाद हमारे चित्तमे एक छटपटाहट पैदा हुई। हमे लगा कि अब और एक क्रातिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदानसे ग्रामदान तक प्रगति होनेसे विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह सारा तत्र तोडना चाहिए। इसलिए भूदानके लिए जो गाधी-निधिका आधार लिया जाता था, वह हमने बद किया और सारा तत्र, भूदान-समितिया आदि, तोड डाली। कोई भी पार्टी, जो व्यापक बनी है, अपना सगठन और मजबूत करना चाहती है। लेकिन वहा हमने बिल्कुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। पलनीमे एक ही प्रस्तावसे सारे भारतकी कुल भूदान-समितिया खत्म कर दी। कल्पनाके विकासका इतिहास लिखनेवाला भविष्यका इतिहासकार इस कल्पनाको बहुत महत्व देगा। वही वास्तवमे इतिहास है, जिसमे मानवकी कल्पनाका किस तरह विकास हुआ, यह बताया गया है।

हमने यह सारा तत्र क्यो तोडा? क्रातिया मान्त्रिक होती है, तान्त्रिक नही होती है। मत्रके बलसे क्राति होती है, तत्रके सगठनके बलसे नही। सस्थासे कोई साधारण सेवाका काम हो सकता है, उससे सत्ता बन सकती है परतु जन-समाजमे क्राति लानेका काम उससे नही हो सकता। क्रातिके लिए मत्र चाहिए और लोग सारे मुक्त हो। हरकोई अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता हो। इस तरह सारी जनतापर आदोलन सौंप दे, तब क्राति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रातोमें जहा पहले ४०-५० कार्यकर्ता थे, उनके बदले सैकडो कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रातोमे जहा पहले कार्यकर्ता १०–५ थे, वे भी गिर गये। इस तरह दोनो परिणाम निकले। हमने दोनो परिणामोकी कल्पना कर रखी थी और मनमें दोनोकी तैयारी भी, बल्कि समितिया टूटनेके बाद कुल हिंदुस्तानका काम गिर जाता तो भी हमें लगता

कि हमने जो कदम उठाया, वह सही है, क्योंकि यह एक शास्त्र है, सिद्धात है कि क्रातिया कभी सस्थाओके जरिए नही होती। सस्थाका एक ढाचा होता है, एक अनुशासनकी पद्धति होती है, उसके अदर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमे बुद्धि-स्वातत्र्य नही रहता है।

आजके लोकतत्रमे यह दोप देख सकते हैं। मान लीजिए कि चुनावमे ३०%लोगोने एक पार्टीको वोट दिया, बाकीके ३०%ने २-४ पार्टियोको मिलकर वोट दिया और ४०%ने किसीको वोट ही नही दिया। अब जिस पार्टीको ३०%वोट मिले उस पार्टीका राज्य चलेगा और वे १००% लोगो पर राज्य करेगे। अब वे जो ३०% वोट पानेवाले राज्य करने लगे उनकी सरकारकी तरफसे पार्लीमेंटमे एक बिल आता है, जिसकी चर्चा पहले पार्टीकी बैठकमे होती है। वहा १६%लोगोने इस बिलको कबूल किया और १४%ने कबूल नही किया, तो भी पार्टी-बैठकमे वह बिल पास हो जाता है। फिर वह बिल पार्लीमेंटमे आता है, तो जिन १४%ने उसे पसद नही किया, उन्हे भी वहा उसे पसद करना पडेगा। उसके पक्षमे हाथ उठाना पडेगा, क्योकि पार्टीका अनुशासन होता है। तो आखिर भारतपर कितने प्रतिशतकी सत्ता चली? यह केवल भारतकी ही हालत नही है, सारी दुनिया के लोकतत्रोकी हालत है। आखिर १६%का राज्य चलता है और इसका नाम है बहुमतका शासन और वे जो १६ हैं उनमे भी २-४ लोगोके पीछे सब लोग चलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि २-४ व्यक्तियोके ही दिमाग-का राज्य भारतपर चलता है। सस्था की शैलीसे यह सब होता है। इसमें क्रातिका सवाल ही नही आता है, क्योकि बुद्धिकी आजादी नही होती। वहा तो हाथोकी गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रातिके लिए तत्र नही चाहिए। हमारे इस निश्चयके बाद ग्रामदानोकी सख्या बढती ही गई।

भूदानमें एकके बाद एक अद्भुत घटनाए घटती गईं। लोग भूदानके विचारकी ओर ध्यान देने लगे, यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदानसे आरभ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते हैं, यह दूसरी बडी घटना है। फिर सारे भारतमे जो तत्र बना था, वह तोडने के लिए लोग तैयार हो गए, यह और एक बडी घटना है। बावजूद तत्र तोडनेके, ग्रामदान बढ रहे हैं, यह एक अद्भुत ही घटना है और इस सबके सिरपर एक बडी घटना मैसूर प्रदेशमें

घटी। वहा हिंदुस्तानके भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षोकी चोटीके नेता, जिनके विचार एक दूसरेसे मिलते नही, इकट्ठे हुए और उन्होने प्रस्ताव करके देशको ग्रामदानका काम उठानेका आदेश दिया। लोग हमसे पूछते है कि बाबा,आप तो '५७मे क्राति होगी, ऐसा कहते थे। हम उनसे कहते है कि क्या आप देखते नही कि क्राति हो चुकी है, क्या आपको उसका दर्शन नही हुआ ? जहा परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले देशके गणमान्य नेता ग्रामदानका एक विचार मान्य करते है, वहा वैचारिक क्राति हुई या नही हुई। वैचारिक क्राति ही वास्तव मे क्राति है। वह हाथोंसे होनेवाली है, वह पीछे आती है। इसलिए आगेका सवाल बहुत कठिन नही है।

हम तो बिल्कुल विचारसे भर गए है। क्राति हमारे साथ आरही है। हम उसके पीछे-पीछे जाते थे, उसे पकडना चाहते थे, अब वह हमारी पकडमे आगई है। उसे हाथमें लेकर अब हम आगे बढेगे।

अब इसके आगे हमें क्या करना है, इस बारेमे मै योजना रखूगा। जब वैचारिक क्राति होगई तो अब इसके आगे हमारे कार्यकर्ताओको जागृत रहना चाहिए। उनके मुखसे मधुर वाणी ही निकलनी चाहिए। खडन नही होना चाहिए। यह तो मैने नेताओके सम्मेलनके पहले ही कालडीमे कहा था कि अब खडन-पर्व समाप्त हुआ है, इसके आगे परम शातिपर्व आया है। नेताओके सम्मेलनके बाद हरेकको इसका दर्शन होना चाहिए कि हम कुछ खडन करते है तो हमारे कामके लिए वह बाधक होता है। अब विश्वास रखना चाहिए कि राष्ट्रका सकल्प हुआ है, इस सकल्पके पीछे परमेश्वरका बल है, अब यह बाबाका व्यक्तिगत सकल्प नही रहा है, न यह सर्वोदयके साधकोका सकल्प रहा है। यह कुल हिंदुस्तान देशका सकल्प हुआ है। इसलिए हमें परमेश्वर-दर्शन तो हो चुका है, इसके बाद उसकी सेवा करनेका कार्यक्रम है, वह बडे प्रेमसे हम करेगे। जबतक परमेश्वरका दर्शन नही हुआ था तबतक बडी विकट साधना करनी पडती थी। वैराग्य बहुत जरूरी था। बहुत क्लेश, कष्ट, विरोध आदि की जरूरत थी। परतु ईश्वरका दर्शन होनेके बाद तो प्रेमसे सेवा करनी है। इसलिए जहा देशको नेताओका आदेश मिल गया, वहा हमे क्रातिका दर्शन हो गया।

अब तो लोगोके काममे जोश आना चाहिए। हमने कहा कि इसके आगे

कार्यकर्ताओंके मुखसे मगल शब्द ही निकलना चाहिए। कही किसीकी मदद मिलो, नही मिलो तो कोई चिंता नही करनी चाहिए। यह देशका कार्य-क्रम है और देश इसे उठाएगा, ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

दूसरी सूचना यह है कि ग्रामदानका विचार क्या है, इसे पूर्ण रूपसे समझ लीजिए। अभीतक लोग समझते थे कि जिनके पास है उनसे लेना है, और जिनके पास नही है उनको देना है, याने जिनके पास है, उनका देनेका धर्म है और जिनके पास नही है उनका लेनेका ही धर्म है। धर्म इस तरह नही होता है। धर्म सबको लागू होना है। सत्य बोलना धर्म है तो किनके लिए है? सबके लिए है। प्रेम करना आदि धर्म है तो सबके लिए है। उसी तरह अगर देना धर्म है तो देनेका धर्म सबको लागू है। इसलिए समझनेकी जरूरत है कि इस देशमे और दुनियामे सपत्तिहीन कोई नही है। हरकिसीके पास देने लायक कुछ-न-कुछ चीज है। किसीके पास जमीन है, किसीके पास सपत्ति है, किसीके पास बुद्धि है, किसीके पास श्रम-शक्ति है। प्रेम तो सबके पास है, अथवा होना चाहिए। जिसके पास देनेकी जो चीज है वह उसे ग्रामदानमे देनी चाहिए। गावके सब जमीनवालोने अपनी सारी जमीन दान दी तो ग्रामदान हुआ, यह अपूर्ण विचार है। जमीनवाले अबतक अपनी जमीनका उपयोग अपने घरके लिए करते थे, अब उन्होंने जमीनका उपयोग गावके लिए करनेका तय किया है, यह बहुत अच्छी बात है। उसी तरहसे मजदूर अबतक अपनी मजदूरीका उपयोग घरके लिए करते थे, अब उन्हे अपनी मजदूरी सारे ग्रामको समर्पण करनी चाहिए। ग्रामदानमें केवल जमीनवालोका ही हृदय-परिवर्तन नही करना है, कुल जनताका हृदय-परिवर्तन करना है। कुछ लोगोंसे लेना और कुछ लोगोको देना, ऐसा यह विचार नही है। आरभ में तैलगानामें जब भूदान-यज्ञ शुरू हुआ था तब ऐसा विचार था और हम भी इस तरह कहते थे, लेकिन आकाशमे सचार करते-करते विचारका विकास हुआ और अब एक पूर्ण विचार आया है कि ग्राममें जिस किसीके पास जो भी हो, वह ग्राम-समाजके लिए अर्पण करे। उस पूर्ण विचारको समझकर इसे जनताके सामने रखना चाहिए।

तीसरी सूचना यह है कि हमें एक बातमें लोगोको निर्भय बनाना चाहिए। कुछ लोग समझे हुए है कि ग्रामदान हुआ तो गावकी कुल जमीन

एक करनी पडेगी। फिर सारे लोग मजदूर-ही-मजदूर बनेगे। यह बिल्कुल गलत विचार है। गावकी योजना गाववाले अपनी इच्छाके अनुसार ही करेगे। अगर वे चाहे तो गावकी कुल जमीनका एक खेत कर सकते है, चाहे तो चार खेत बना सकते हैं, चाहें तो हर घरमें जमीन बाट सकते है। मालकियतके तौर पर नही, बल्कि काश्त करनेके लिए। इस तरहसे वे जिस प्रकारकी योजना चाहते है, वैसी कर सकते हैं। लेकिन एक बात बडे महत्वकी है कि जो भी करे, एक-दूसरेके साथ सहयोगकी भावना होनी चाहिए। सहयोग नामका जो गुण है, वह होना चाहिए, फिर खेती सहकारी बनानी है या नही, यह विषय गौण है। ग्रामदानके हर गावमे एक ही प्रयोग नही चलेगा, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रयोग चलेगे। उनमे किस प्रयोगसे ज्यादा लाभ होता है, यह सब देखेंगे। हम चाहते है कि लोग अलग न रहे, सब लोग एकत्र काम करे तो अच्छा होगा। परतु यह पूर्ण विचारसे और स्वतंत्र बुद्धिसे करनेकी बात है, इसमें दबाव कुछ नही है।

चौथी बात यह है कि ग्रामदानमे किसीको कुछ भी खोना नही है। यह बात प्रथम ध्यानमे आनी चाहिए। राजा-महाराजा गए और उनकी रियासतें भारतमें शामिल हुई, इसमे उन्होने क्या खोया? उन्हे पूरा रक्षण मिला और जो नाहकका वैभव उनके पीछे लगा था, जिसकी उन्हे चिता करनी पडती थी, वह खत्म हुई और उनमेसे जो बुद्धिवाले थे, उन्हे प्रजाका प्रेम मिला। इसी तरहसे ग्रामदानमे किसीको कुछ खोना नही है। उसमे अपना पैसा बैंकमे रखने-जैसी बात है। व्यक्तिके लिए समाज ही सबसे बढकर बैंक है। सारे समाजको अपनी जमीन समर्पण करनेमे व्यक्तिका पूरा रक्षण है। हमने चार वैचारिक सूचनाए दी। अब आचार-योजनाके बारेमे कुछ कहेगे।

अब इस कामका भार भूदानके चद कार्यकर्ताओ पर है, ऐसा नही सोचना चाहिए। हमने भूदान-समितिया तोड डाली, फिर भी एक जिलेके लिए निवेदक के तौर पर एक एक मनुष्य रखा। जिलेमें क्या चल रहा है इसबारेमे वह 'सर्व-सेवा-सघ' से निवेदन करेगा। वह अकेला शख्स एक जिलेमे क्या करेगा? कुछ बडे लोगोसे प्रेमसे तगादा करेगा, इससे ज्यादा वह कुछ नही कर सकता।

जिन नेताओने यह काम उठानेका आदेश दिया है, उनके अनुयायियो-

को यह काम उठा लेना चाहिए। अब यह आदोलन सबके आधार पर है। इसमे सबकी इज्जत खतरेमे है। देशकी आबरू इसके साथ जुडी हुई है, यह समझकर सब प्रकारके भेदभावोको छोडकर, सबको यह काम उठा लेना चाहिए। यह हमारी प्रत्यक्ष आचार-योजना है। उन-उन लोगोसे बात करते समय हम उनसे पूछेगे कि आप क्या काम करते रहे है? अब यह बाबाका काम नही है, आपका काम है। बाबा आपके जिलेमे घूम रहा है, उसका उपयोग करो। अभी तक यह था कि बाबाके काममे ये लोग मदद करते थे और बाबाको उनका उपकार मानना पडता था। अब वे उनके काममे बाबाकी मदद लेगे और बाबाने मददकी तो उसका उपकार मानेगे। अब परिस्थिति बदल गई है। फिर भी हम आपसे यह अपेक्षा नही करते है कि आप हमारा उपकार माने। हम तो सबके चरणोके सेवक है। हमे बहुत दफा नम्मलवार का एक वचन याद आता है, जिसमे वह कहता है कि "मै तेरे दासके दासके दासका दास हू।" यही विनोबाकी हैसियत है। इसलिए विनोबा आपकी चरण-सेवाके लिए हमेशा तैयार है। लेकिन आप सबको यह काम उठाना चाहिए।

आप यह काम करेगे और जगह-जगह लोग ग्रामदानके लिए तैयार हो जायगे। लेकिन जहा लोग ग्रामदानके लिए तैयार होते है, वहा उनके पीछे राहु, केतु, शनि, मगल रूपमे साहूकार लगते है। साहूकार उनसे कहते है कि पुराना कर्जा जल्दी वापस दो और इसके आगे तुम्हे कर्जा नही मिलेगा, क्योकि तुम्हारी मालकियत नही रही है। यहातक कि सरकार भी उन्हे कर्जा देनेको राजी नही होती है, याने उन गाववालोने कुछ पाप ही किया हो, इस तरहसे सब लोग उनपर हमला करते है। इसलिए ग्रामदान-प्राप्ति-के बाद कुछ आगेका काम करना पडता है।

ग्रामदानके बाद ग्राम-स्वराज्यकी स्थापना करनेका काम आता है। एक गावको मजबूत बनानेकी बात है। यह काम सबको करना है। इसमे पहली जिम्मेदारी गावकी है। इसमे दाता, व्यापारी, खादी कमीशन, कम्युनिटी प्रोजेक्ट आदि सबकी जिम्मेदारी है। देशमें एक बडी घटना बनी तो ग्रामके उत्थानके लिए जिम्मेदारी सबकी है वह काम हम नही करेगे। इसका मतलब यह है कि देशमे ग्रामदानसे नैतिक हवा निर्माण हुई तो उसे टिकाए रखना

चाहिए। लोगोके पास सतत जाकर विचार समझानेवालोको और सेवा करनेवालोकी एक सेना खडी करनी चाहिए। उसे हमने 'सेवा-सेना' नाम दिया है। शहरमे भी ऐसी 'सेवा-सेना' बननी चाहिए। दस लाखकी जनसख्या वाले बगलौर शहरके लिए हर ५ हजार मनुष्योके पीछे एक सेवक, इस हिसाबसे २०० सेवक चाहिए। वे सेवक पाच हजार लोगोसे सपर्क रखेगे। रोज लोगोके घर जायगे। उन्हे साहित्य पहुचायेगे। हरेकका दुख जानेगे। फिर अपने लोगोमे वह बात रखेगे और कुछ दुख-निवारणकी कोशिश करेगे- इस तरह एक निरतरसेवाकी योजना सारे भारतमे होनी चाहिए। तब ग्रामदान-क्राति शाश्वत होगी, स्थिर होगी, ग्रामदानसे जो नैतिक हवा बनती है, उसकी गर्मी बनी रहेगी, बल्कि वह गर्मी बढती रहेगी। उसके लिए सारे भारतमें ७०हजार सेवकोकी एक सेवा-सेना चाहिए।

हमने 'सेवा-सेना' नाम क्यो लिया ? हिदुस्तानमे सेवा है, परतु सेवा-सेना नही है। याने सेवाका आक्रमण नही हो रहा है। हमारे सामने कोई भिखारी आता है तो उसका दु ख देखकर हमारा दिल पिघलता है और हम कुछ सेवा करते है। इस तरहकी सेवासे सामाजिक क्राति नही होती है। सेवाका आक्रमण होना चाहिए। जैसे बच्चा भागना चाहता है तो भी मा उसे पकडती है, उसकी नाक साफ करती है, उसे दूध पिलाती है। वह रोता ही रहता है, मुह खोलता ही नही, तो मा नाक दबाकर मुह खोलती है और उसे दूध पिलाती है। उसके हितकी बात मा समझाती है। वैज्ञानिक कहते है कि बच्चा अगर नही रोएगा तो उसे दूध हजम नही होगा। उसका रोना लाजमी है, रोते हुए भी मा उसके मुहमे दूध डालेगी, तभी वह उसे पचा सकेगा। इस तरह जैसे माता प्रेमका आक्रमण करती है, वैसे ही सेवाका आक्रमण होना चाहिए। हमारी आखके सामने कोई दुख आया और फिर हमने उसके निवारणकी कोशिश की, यह सेवा-सेना नही है, बल्कि सेवा-सेनाके सेवक खुद घर-घर जायगे। यह सेवा-सेना ही मौके पर 'शाति-सेना' बनेगी।

